

बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर बहस

| | |
|---|----|
| विशेष सम्पादकीय (बिगुल प्रवेशांक, अप्रैल 1996) | |
| एक नये क्रान्तिकारी मज़दूर अख़बार की ज़रूरत..... | 2 |
| (बिगुल के स्वरूप पर आत्माराम का पत्र), (जुलाई-अगस्त 1996) | |
| कुछ ज़्यादा ही लाल... कुछ ज़्यादा ही अन्तरराष्ट्रीय..... | 7 |
| (सम्पादक बिगुल का जवाब), (जुलाई-अगस्त 1996) | |
| इतने ही लाल... और इतने ही अन्तरराष्ट्रीय की आज ज़रूरत है | 8 |
| (अप्रैल 1999) | |
| ‘बिगुल’ के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार | 10 |
| (अप्रैल 1999, लेनिन का लेख) | |
| मज़दूर अख़बार – किस मज़दूर के लिए? | 13 |
| (जून-जुलाई 1999, पी.पी. आर्य का पत्र) | |
| आप लोग कमज़ोर, छिछले कैरियरवादी बुद्धिजीवी हैं और ‘बिगुल’ हिरावलपन्थी अख़बार है!..... | 15 |
| (जून-जुलाई 1999, सम्पादक, बिगुल का जवाब) | |
| 1999 के भारत के ‘क्रीडो’ मतावलम्बी | 20 |
| (अगस्त 1999, विश्वनाथ मिश्र का जवाब) | |
| सर्वहारा वर्ग का हिरावल दस्ता बनने की बजाय उसका पिछवाड़ा निहारने की ज़िद..... | 32 |
| (अगस्त 1999, अरविन्द सिंह का जवाब) | |
| भारतीय मज़दूर आन्दोलन की पश्चगामी* यात्रा के हिरावल “सेनानी” | 34 |
| (अक्टूबर 1999 – विशेष बहस परिशिष्ट, पी.पी. आर्य का पत्र) | |
| बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर बहस को आगे बढ़ाते हुए | 37 |
| (अक्टूबर 1999 – विशेष बहस परिशिष्ट, सम्पादक, बिगुल का जवाब) | |
| बहस को मूल मुद्दे पर एक बार फिर वापस लाते हुए | 53 |
| (अक्टूबर 1999 – विशेष बहस परिशिष्ट, ललित सती का पत्र) | |
| ‘बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप’ पर जारी बहस : एक प्रतिक्रिया | 68 |
| (अक्टूबर 1999 – विशेष बहस परिशिष्ट, देहाती मज़दूर यूनियन के कार्यकर्ताओं का पत्र) | |
| देर से प्रकाशित एक और प्रतिक्रिया | 69 |

एक नये क्रान्तिकारी मज़दूर अख़बार की ज़रूरत

आज एक नये क्रान्तिकारी मज़दूर अख़बार की ज़रूरत है। बेहद, बुनियादी और फ़ौरी ज़रूरत है। बल्कि इस मामले में पहले ही देर हो चुकी है।

बेहतर तो यह होता कि यह अखिल भारतीय पैमाने का, कम से कम साप्ताहिक, अख़बार होता जो सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में एक साथ छपता। मगर आज यह सम्भव नहीं है। देश के अधिकांश या कम से कम कुछ क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ग्रुपों, संगठनों की संयुक्त शक्ति के बूते पर ही इसे सम्भव बनाया जा सकता है। अभी यह सम्भव नहीं है, क्योंकि क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच तमाम उसूली और अमली मतभेद मौजूद हैं। इसलिए फ़िलहाल एक मासिक बुलेटिन से हम शुरुआत कर रहे हैं। इसे आगे हर पखवाड़े और फिर हर हफ्ते निकालने की कोशिश की जायेगी।

•

हम एक ऐतिहासिक तूफ़ानी दौर की चौखट पर खड़े हैं!

(1966-1976) के दौरान माओ त्से-तुङ ने कहा था, “अब से लेकर अगले पचास से सौ वर्षों तक का युग एक ऐसा महान युग होगा जिसमें दुनिया की सामाजिक व्यवस्था बुनियादी तौर पर बदल जायेगी। वह एक ऐसा भूकम्पकारी युग होगा जिसकी तुलना इतिहास के पिछले किसी भी युग से नहीं की जा सकेगी। एक ऐसे युग में रहते हुए, हमें उन महान संघर्षों में जूझने के लिए तैयार रहना चाहिए जो अपनी विशिष्ट चिन्ताओं में अतीत के तमाम संघर्षों से कई मायने में भिन्न होंगे।”

पूरी दुनिया और अपने देश के हालात को अच्छी तरह देखने-परखने के बाद, हमारा मानना है कि हम एक उथल-पुथल भरे, ज़बरदस्त आँधियों-तूफ़ानों से भरे क्रान्तिकारी बदलाव के ऐतिहासिक दौर की दहलीज पर खड़े हैं। यह तूफ़ान के पहले की शान्ति है, घुटन और उमस से भरी हुई। यह टूटने ही वाली है। हम जिस नये ऐतिहासिक संक्रान्ति काल में प्रवेश करने वाले हैं, उसकी पूरे मन से, पूरी ताक़त से, पूरी लगन से तैयारी ज़रूरी है। क्रान्तिकारी संकट के भावी समय में मेहनतकश अवाम के असन्तोष और गुस्से के विस्फोट थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से लगातार होते रहेंगे। यदि सर्वहारा वर्ग का हिरावल दस्ता – उसकी क्रान्तिकारी पार्टी गठित हो जायेगी, मज़बूत हो जायेगी और तैयारी रहेगी, यदि मज़दूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश अवाम के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार, संगठन और आन्दोलन का काम करते हुए वह खुद को और आम मेहनतकश आबादी को चाक-चौबन्द रखेगी; तभी आगे क्रान्तिकारी संकट के किसी विस्फोट को क्रान्ति में बदला जा सकेगा या फिर योजनाबद्ध व्यवस्थित तैयारी के बाद वर्तमान पूँजीवादी निजाम का क्रान्ति के द्वारा नाश किया जा सकेगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो “ऐतिहासिक मोड़ हमें बिना तैयारी की हालत में आ दबोचेंगे” और हम चूक जायेंगे।

हालाँकि आज लेनिन और माओ के देश में भी सर्वहारा वर्ग की सत्ता कायम नहीं है और पूँजीवाद फिर से बहाल हो गया है। पर यह क्रान्ति की अन्तिम हार नहीं है। इतिहास में पहले भी ऐसा हुआ है कि पुराने वर्ग पर फ़ैसलाकुन जीत से पहले नया वर्ग कई बार हारा है। मज़दूर वर्ग की लड़ाई तो वैसे भी काफ़ी कठिन है क्योंकि उसे चार हज़ार वर्षों से भी अधिक पुरानी निजी सम्पत्ति की व्यवस्था की हर निशानी को मिटाकर, समाजवादी बदलाव के लम्बे रास्ते से होकर वर्गविहीन, शोषणमुक्त समाज तक जाना है।

हालात बताते हैं साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को आखिरी तौर पर क़ब्र में सुलाने वाली नयी समाजवादी क्रान्तियों का जन्म होना ही है। फ़िलहाल वे संकटपूर्ण हालात की कोख में पल-बढ़ रही हैं। अमेरिका और यूरोप के धनी देशों तक में पूँजीवाद की बीमारियाँ लाइलाज हो चुकी हैं, भारत और एशिया-अफ़्रीका-लैटिन अमेरिका के ग़रीब और पिछड़े पूँजीवादी देशों की तो बात ही क्या है!

विश्व पूँजीवाद को इसकी लाइलाज बीमारियों से सिर्फ मौत ही निजात दिला सकती है!

बात न सिर्फ इतनी है कि पूँजीवाद का अब तक का इतिहास गरीबों-मजदूरों, किसानों-मजदूरों की लूट और तबाही का, विनाश और बरबादी का, मारकाट और युद्धों का सिलसिलेवार लेखाजोखा है। बात न सिर्फ इतनी है कि पूँजीवादी विकास की गाड़ी बिना धनी-गरीब की खाई को ज़्यादा से ज़्यादा बढ़ाये, बिना मेहनतकशों को निचोड़े, और बिना लुटेरे पूँजीपतियों की गलाकाटू आपसी होड़ और युद्ध के आगे बढ़ ही नहीं सकती। पूँजीवाद के रास्ते खुशहाली का अर्थ ही है, कमरों की भारी आबादी की लूट और बदहाली की कीमत पर मुट्ठी भर लुटेरों की खुशहाली। इन सच्चाइयों को तो पूँजीवाद के लगभग दो सौ वर्षों के इतिहास ने सिद्ध कर ही दिया है। बीसवीं सदी पूँजीवाद के विकास की चरम अवस्था की सदी – साम्राज्यवाद की सदी रही है जिसने अब यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व पूँजीवाद अब इन्सानियत को कुछ भी अच्छा नहीं दे सकता, और यह भी कि, यह अपने खुद के संकटों से लाख कोशिशों के बावजूद मुक्ति नहीं पा सकता, थोड़ी देर के लिए राहत भले ही पा ले।

पूँजीपति और पूँजीवादी भूस्वामी अपने कारखानों और फ़ार्मों में चीज़ें इसलिए नहीं पैदा करते कि समाज उनका उपयोग करे। वे चीज़ें मुनाफ़ा कमाने के लिए, बेचने के लिए, बाज़ार के लिए पैदा करते हैं। उनका एक ही मन्त्र है – ‘सस्ता से सस्ता ख़रीदो, महँगा से महँगा बेचो।’ उनकी एकमात्र चिन्ता यह होती है कि उनकी पूँजी किस तरह लगातार बढ़ती रहे। वे कच्चा माल और मजदूरों का श्रम सस्ता से सस्ता ख़रीदते हैं। मजदूर मजबूर होते हैं क्योंकि कारखानों और उत्पादन के सभी साधनों के मालिक पूँजीपति ही होते हैं और राज्यसत्ता भी उन्हीं के प्रतिनिधियों के हाथों में होती है। पूँजीपति मजदूर को सिर्फ़ उतना ही देते हैं जितने में वे अपना पेट पालकर उनके लिए काम करते रह सकें। माल की बिक्री से मिला शेष सारा रुपया वे हड़प जाते हैं। लगातार नयी-नयी मशीनें लाकर वे मजदूरों से कम से कम समय में ज़्यादा से ज़्यादा मेहनत करवाते हैं और उनकी मेहनत का ज़्यादा से ज़्यादा हिस्सा लूटते हैं। नयी मशीनें आने पर फ़ाज़िल हो गये मजदूरों को वे सड़कों पर धकेल देते हैं। फिर भी एक मंज़िल यह आती है कि वे इतना पैदा कर देते हैं कि चीज़ों के ख़रीदार नहीं रह जाते। पूँजीवादी उत्पादन ज़्यादा चीज़ें पैदा करने के साथ ही जनता को ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़कर उसकी आमदनी पर सीमा भी बाँधता चलता है और वह उसके द्वारा तय कीमतों पर चीज़ें नहीं ख़रीद पाती। और पूँजीपति दाम नीचे कर नहीं सकता क्योंकि वह कुछ भी कर सकता है पर अपना मुनाफ़ा नहीं छोड़ सकता। भले ही इसके लिए उसे अनाज जलाना और समुद्र में फेंकना पड़े या उत्पादन ही रोकना पड़े।

इस तरह बाज़ार में मन्दी आ जाती है। इस स्थिति से बचने के लिए पूँजीपति लुटेरों ने अपने लूट का तन्त्र पूरी दुनिया में फैला दिया। पहले एशिया, अफ़्रीका, लैटिन अमेरिका के देशों को हथियारों के ज़ोर पर गुलाम बनाकर वे पहले से ही लूट रहे थे।

बीसवीं सदी में यह लूट और गहरी और व्यापक हो गयी। यह एकाधिकारी पूँजी के दुनिया भर में फैलाव और कूपन काटकर लूटने का नया साम्राज्यवादी युग था। फिर उपनिवेशों की जनता की आज़ादी की लड़ाई के नतीजे के तौर पर साम्राज्यवादी लुटेरे गुलाम देशों को राजनीतिक आज़ादी देने के लिए मजबूर हो गये। पर जिन पिछड़े देशों को राजनीतिक आज़ादी मिली उनमें से ज़्यादातर देशों में हुकूमत देशी पूँजीपतियों के हाथों में ही आयी। अब उन्होंने अपने देश की जनता को लूटना शुरू किया। साथ ही, उन्होंने साम्राज्यवादियों की पूँजी भी देश में लगी रहने दी और उन्हें भी लूटने का मौक़ा दिया। बल्कि नये-नये उद्योगों में भी विदेशी पूँजी को वे न्यौता देते रहे। कारण कि नयी मशीनों और मशीनी हुनर के लिए तथा पूँजी के लिए वे अमीर देशों के पूँजीपतियों पर आश्रित थे। नतीजतन, साम्राज्यवादियों से थोड़ी बहुत आज़ादी लेकर कुछ दिनों तक पूँजीवादी विकास के रास्ते पर चलने के बाद गरीब देशों के पूँजीपति शासकों ने आख़िरकार विदेशी पूँजी के लिए देश के दरवाज़ों को पूरी तरह खोल दिया। यह उनकी मजबूरी भी थी और ज़रूरत भी। साम्राज्यवादी देशों का इसके लिए दबाव भी था क्योंकि वे इतिहास की सबसे गम्भीर मन्दी के शिकार थे और नये-नये बाज़ार की तलाश के लिए बेताब थे।

मगर लगाने के लिए उनके पास पूँजी का अम्बार इतना अधिक था कि एशिया, अफ़्रीका, लैटिन अमेरिका के देशों में इसके खपने की गुंजाइश ही नहीं थी। साम्राज्यवादी देश गरीब देशों के मेहनतकशों का श्रम और इनका कच्चा माल मिट्टी के मोल तो ख़रीद सकते थे (और ख़रीद ही रहे हैं) पर सदियों की लूट से तबाह इन देशों में उनके मालों के लिए बाज़ार एक हद तक ही बन सकता था। नतीजतन यह समस्या फिर भी बनी रहती कि पूँजी के अम्बार को कहाँ लगायें। इसी समस्या को हल करने का एक नया रास्ता पूँजीपतियों ने इधर यह निकाला है कि बड़े पैमाने पर उन्होंने सट्टा बाज़ार, विज्ञापन, बीमा, ज़मीन-जायदाद आदि में पूँजी लगायी है जहाँ वास्तव में किसी चीज़ का उत्पादन नहीं होता, पर पूँजी ऐसे बढ़ती है जैसे हवा से फूलता गुब्बारा। आज पूरी दुनिया के पैमाने पर दूसरे देशों में यदि 70 डॉलर पूँजी लग रही है तो उसमें से सिर्फ़ एक डॉलर वास्तविक उत्पादन में लग रहा है।

दुनिया के मेहनतकशों की लूट में साम्राज्यवादियों के छोटे साड़ीदार – गरीब देशों के शासक पूँजीपति

यह है आज पूरी दुनिया के पैमाने पर पूँजीवाद का चेहरा! यह है उसका अति परजीवी चरित्र! पिछले बीस वर्षों के दौरान पूरी दुनिया के पैमाने पर पूँजी ने पहले हमेशा के मुक़ाबले तेज़ रफ़्तार से दौड़ते हुए, देशों की सीमाओं को लाँघते हुए एक भूमण्डलीय बाज़ार का, पहले हमेशा से अधिक एकीकृत विश्व बाज़ार का निर्माण किया है। बुनियादी ज़रूरत की चीज़ों के उत्पादन पर पूरी दुनिया के पैमाने पर मुट्ठीभर दैत्याकार एकाधिकारी और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कब्ज़ा है। इसके अलावा सबसे बड़ी इजारेदार कम्पनियाँ और पूँजी का बड़ा हिस्सा बीमा, विज्ञापन, बैंक, रेडिया-टी.वी. आदि-आदि में लगा हुआ है। फिर भी दुनिया भर के साम्राज्यवादी डाकुओं का संकट यह है कि वे अपनी पूँजी का अम्बार कहाँ लगायें! जब वे पूँजी कहीं लगाते हैं तो अतिलाभ निचोड़ते हैं और नतीजतन पूँजी का अम्बार और बढ़ जाता है। समाधान की हर कोशिश लौटकर संकट को और गहरा कर जाती है। साम्राज्यवादी लुटेरे पूरी दुनिया के बाज़ार की बन्दरबॉट के लिए कुत्तों की तरह लड़ रहे हैं।

भारत और ऐसे तमाम गरीब देशों के पूँजीपतियों ने आज देश की अर्थव्यवस्था के दरवाज़ों को साम्राज्यवादी लुटेरों के लिए पूरी तरह खोल दिया है। विदेशी लुटेरों और देशी लुटेरों ने अपनी-अपनी मजबूरियों और ज़रूरतों के चलते आपस में गाँठ जोड़ ली है। मुनाफ़े के बँटवारे के लिए वे आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, खींचा-तानी करते हैं पर आम मेहनतकश आबादी के खिलाफ़ वे पूरी तरह एक हैं।

साम्राज्यवादियों के साथ आज लुटेरी जमात में टाटा-बिड़ला-अम्बानी जैसे बड़े पूँजीपतियों से लेकर छोटे पूँजीपति तक शामिल हैं। साथ ही धनी किसान, पूँजीवादी भूस्वामी, फ़ार्मर आदि भी इनके छोटे हिस्सेदार हैं। बड़े व्यापारी-ठेकेदार-अफ़सर-नेता आदि तथा मध्यम वर्ग के खुशहाल तबक़े भी इन्हीं लुटेरों के लगू-भगू हैं, इन्हीं के टुकड़खोर और मजदूरों, छोटे व गरीब किसानों तथा आम मध्यम वर्ग के लोगों के दुश्मन हैं।

सभी चुनावबाज़ पूँजीवादी पार्टियाँ इन्हीं लुटेरों के अलग-अलग हिस्सों की, और कुल मिलाकर इस पूरी लुटेरी जमात की सेवा करती हैं। चुनावबाज़ वामपन्थी दल भी इन्हीं लुटेरों के निजाम की हिफाजत में तैनात हैं और इन्हें फ़िलहाल आम मेहनतकश आबादी को चुनावी राजनीति के दायरे में कैद रखने तथा सिर्फ़ दुअन्नी-चवन्नी के लिए लड़ने की भूल-भुलैया में फँसाये रखने के लिए तैनात किया गया है।

नयी आर्थिक नीति का ख़ूनी चेहरा

पिछले चार वर्षों से नरसिंह राव की सरकार साम्राज्यवादी सूदखोरों-लुटेरों और विश्व बैंक-अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष जैसी उनकी एजेंसियों द्वारा सुझाये गये नुस्खों के आधार पर नयी आर्थिक नीतियों को लागू कर रही है। वह दावा कर रही है कि इन नीतियों के अमल से देश खुशहाली के रास्ते पर आगे बढ़ रहा है। नक़ली समाजवाद के नेहरू के ज़माने वाले झण्डे को उतारकर खुले पूँजीवाद का झण्डा लहरा दिया गया है। सरकारी कल-कारख़ाने, सड़क, रेल, डाक-तार आदि को धीरे-धीरे देशी पूँजीपतियों और विदेशी कम्पनियों को सौंपा जाने लगा है। सरकार दावा कर रही है कि संकट अब लगभग दूर हो चुका है और खुशहाली का दौर शुरू हो रहा है।

ज़रा इस खुशहाली के दौर की बानगी तो देखिये! उद्योगों के नवीनीकरण के नाम पर पिछले चार वर्षों में हर वर्ष लगभग 40-50 लाख मजदूरों का रोज़गार छिना है। नयी भर्तियाँ बन्द हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और बड़े एकाधिकारी घरानों के अजगरी शिकंजे में अब तक करीब चार लाख छोटे और घरेलू उद्योग-धन्धे तबाह हो चुके हैं। साथ ही, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, अहमदाबाद आदि पुराने औद्योगिक शहरों के जूट, कपड़ा आदि के कारख़ानों और पुरानी चीनी मिलों पर ताले लटक चुके हैं। बेरोज़गारों की संख्या पूरे देश में 20 करोड़ के आसपास जा पहुँची है जो इस सदी के अन्त तक दूनी हो जायेगी। छोटे और मँझोले किसान पूँजी की मार से तबाह अपनी जगह-ज़मीन से और तेज़ी से उजड़ते जा रहे हैं और उनकी एक भारी आबादी जानवरों सी ज़िन्दगी बसर करके भी पेट पालने के लिए शहरों की ओर भाग रही है।

देशी-विदेशी लुटेरे जो नये उद्योग लगा रहे हैं, उनमें ज़्यादातर काम कैजुअल, टेम्पेरी मजदूरों से या ठेके पर काम करा रहे हैं। स्थायी नौकरियाँ नाममात्र की होती हैं। इस तरह पहले ये डाकू बेकारों की भीड़ खड़ी कर रहे हैं और फिर उनकी मेहनत मिट्टी के मोल खरीदकर अपनी तिजोरियाँ भर रहे हैं।

यह सरकार जब बनी थी तो देश पर 11 खरब रुपये का विदेशी कर्ज़ था जो अब बढ़कर 40 खरब रुपये हो गया है। देश का हर व्यक्ति विदेशी कर्ज़ के ब्याज और मूल की क़िश्तों के रूप में सात सौ रुपये का भुगतान करता है। देश के बजट का चालीस फ़ीसदी हिस्सा विदेशी कर्ज़ की क़िश्तें और ब्याज चुकाने में ही चला जाता है।

पर नरसिंह राव भी सही ही कह रहे हैं। खुशहाली आयी है। अब यह बात दीगर है कि वह सिर्फ़ ऊपर के बीस फ़ीसदी

लोगों के लिए आयी है। और नीचे की तथा बीच की अस्सी फ़ीसदी आबादी की तबाही-बरबादी की कीमत पर आयी है। दुनिया की ज्यादातर महँगी कारें, तरह-तरह की मोटरसाइकिलें और स्कूटर, फ़्रिज-एयरकण्डिशनर, रंगीन टी.वी., कपड़े धोने-झाड़ू लगाने की मशीनें, पेप्सी, कोक और डिब्बाबन्द खाने की महँगी चीज़ों वगैरह से बाज़ार पट चुके हैं। मेहनतकशों के भारत और चोट्टों के भारत के बीच का बँटवारा पहले कभी भी इतना साफ़ नहीं था। तबाही-बरबादी के समन्दर में ऐयाशी और विलासिता की इतनी ऊँची-ऊँची मीनारें कभी नहीं थीं।

यह नयी समाजवादी क्रान्ति की तैयारी का दौर है!

वैसे कहने को तो सभी गैर-कांग्रेस विरोधी चुनावी पार्टियाँ नरसिंह राव सरकार की नयी आर्थिक नीति का विरोध करती हैं, पर उनका विरोध एकदम फ़र्जी है, सिर्फ़ जनता से वोट लेने के लिए है। जिन राज्यों में जनता दल, भाजपा, वामपन्थी दलों, सपा-बसपा आदि की सरकारें रही हैं और आज भी हैं वे सबकी सब निजीकरण और विदेशी कम्पनियों को लूट की खुली छूट की नीति लागू करने में केन्द्र की सरकार से एक कदम भी पीछे नहीं रही हैं। इन सभी पार्टियों का भाँडा तो भारतीय पूँजीपतियों के संगठन सी.आई.आई. के अध्यक्ष राजीव कौल ने पिछले दिनों खुद ही यह कहकर फोड़ दिया कि चुनाव में चाहे कोई भी दल जीते, आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया जारी रहेगी। (जनसत्ता : 5 मार्च '96, नयी दिल्ली)

कम से कम इस मामले में हम भी पूँजीपतियों के इस सरगना के विचारों से सहमत हैं कि अब भारतीय पूँजीवाद इस राह को उलट या बदल नहीं सकता। लेकिन इसमें हम यह भी जोड़ देना चाहते हैं कि यह राह इतिहास के उस क़ब्रिस्तान तक जाती है जहाँ अतीत के सभी शासक वर्ग और जालिम व्यवस्थाएँ दफ़न हैं। और यह भी **अब इस सफ़र की मंज़िल बहुत दूर नहीं है।**

राज-काज, समाज और उत्पादन की कोई भी व्यवस्था आज तक अमर नहीं रही है। लूट और दमन का कोई भी तन्त्र हमेशा के लिए कायम नहीं रहा। पूँजीवाद भी अमर नहीं है – न तो पूरी दुनिया के पैमाने पर, न ही हमारे देश में। यह ज़ोरो-जुल्म, इतनी तबाही जनता हमेशा के लिए बर्दाश्त नहीं कर सकती। चोरों-लुटेरों का शासन जारी नहीं रह सकता। सिर्फ़ गत पाँच वर्षों के कांग्रेसी शासन के दौरान लगभग 9 खरब रुपये के घोटाले हुए हैं। जो नेता और अफ़सर पूँजीपति डाकू-लुटेरों के राजनीतिक नुमाइन्दे हैं, वे खुद भी चोरी-पाकेटमारी भला क्यों न करें? अब कुछ मुक़दमे चलाकर और कुछ प्यादे पिटवाकर इस व्यवस्था के दामन को साफ़ दिखलाने की चाहे जितनी भी कोशिश की जाये, असलियत दिन के उजाले के मानिन्द साफ़ है।

साम्राज्यवाद का यह नया दौर आर्थिक नव-उपनिवेशवाद का दौर है। यह विश्व पूँजीवाद के असाध्य, ढाँचागत और अन्तकालिक रोगों-बीमारियों का दौर है। यह मज़दूर क्रान्तियों के अधिक उन्नत, अधिक सबल और अधिक सम्भावना सम्पन्न रूपों के पैदा होने का दौर है। यह भारत और ऐसे तमाम पिछड़े देशों में, जो विश्व पूँजीवादी तन्त्र की कमज़ोर कड़ियाँ हैं, साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद विरोधी नयी क्रान्तियों का दौर है। यह नयी समाजवादी क्रान्तियों का दौर है। एकदम फ़ौरी तौर पर, यह इन नयी क्रान्तियों की तैयारी का समय है। एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन का समय है।

सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के बिना क्रान्ति असम्भव है!

इतिहास गवाह है कोई भी सामाजिक व्यवस्था चाहे जितनी भी जर्जर हो, वह तब तक समाप्त नहीं होती जब तक समाज की विकासमान शक्तियाँ संगठित होकर उसे नष्ट करके नयी व्यवस्था का निर्माण नहीं करती। पूँजीवाद का नाश करके निजी सम्पत्ति की पूरी व्यवस्था को समाप्त करने का सिलसिला शुरू करने का ऐतिहासिक मिशन दुनिया भर के मज़दूर वर्ग का ही है। यह अटल सत्य है।

भारत में भी नयी क्रान्ति की अगुवाई यहाँ का मज़दूर वर्ग ही करेगा – सबसे आगे औद्योगिक सर्वहारा वर्ग की कृतारें और फिर ग्रामीण सर्वहारा वर्ग की कृतारें। सर्वहारा वर्ग ही पूरी आम मेहनतकश आबादी – मध्यम एवं ग़रीब किसानों तथा सभी तबाहहाल मध्यम वर्गों को पूँजी के जुए से मुक्ति के संघर्ष में नेतृत्व देगा।

पर इतिहास का एक ज़रूरी सबक यह भी है कि पूरे देश स्तर पर, वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा के आधार पर – आज के सन्दर्भों में **माक्स-एंगेल्स-लेनिन** और **माओ** के विचारों के आधार पर और क्रान्ति के एक सही कार्यक्रम के आधार पर, **एक क्रान्तिकारी पार्टी संगठित किये बिना सर्वहारा वर्ग क्रान्ति सम्पन्न नहीं कर सकता, उसकी अगुवाई नहीं कर सकता।**

भारत के मज़दूर वर्ग के सामने आज यह सबसे ज़रूरी, सबसे पहला काम है। उसे सोचना है कि **मज़दूर वर्ग की अखिल भारतीय स्तर की क्रान्तिकारी पार्टी – एक सच्चे बोल्शेविक ढंग की पार्टी कैसे गठित हो?**

हमारी समझ है कि ठहराव को तोड़कर सच्चे अर्थों में, सिद्धान्त और व्यवहार में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ग्रुपों को एकजुट करने के लिए और नये सिरे से इन्कलाबी पार्टी बनाने की कोशिशों को तेज करने के लिए मजदूर वर्ग के एक नये, इन्कलाबी अखबार की ज़रूरत है। 'बिगुल' का प्रकाशन इसी ज़रूरत और ज़िम्मेदारी के अहसास से शुरू किया गया है।

क्रान्तिकारी पार्टी खड़ी करने के लिए एक क्रान्तिकारी राजनीतिक अखबार ज़रूरी है

इधर एक लम्बे समय से देखने में यह आ रहा है कि देश के क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के छोटे-छोटे ग्रुप सिर्फ़ क्रान्तिकारी प्रचार और आम आह्वान की कार्रवाइयों तक ही सिमट गये हैं। विचारधारा और क्रान्ति के कार्यक्रम आदि पर उनका तमाम साहित्य कार्यकर्ताओं तक और मध्यमवर्ग के क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों तक ही पहुँच पाता है। सन्तुलन कायम करने के लिए वे किसानों या मजदूरों के संगठन या यूनियन बनाते हैं और कुछ रस्मी कार्रवाइयों-रूटीन आन्दोलनों तक सीमित रह जाते हैं। व्यावहारिक ठोस काम के नाम पर, अलग यूनियन खड़ी करके भी कुछ क्रान्तिकारी वास्तव में थोड़ा अधिक रैडिकल या गरम क्रिस्म का अर्थवाद ही करते हैं। भाँति-भाँति के अर्थवादियों और ट्रेडयूनियनवादियों से ऊबा हुआ मजदूर वर्ग उन्हें एक क्रान्तिकारी विकल्प के रूप में कतई नहीं देख पाता। दूसरी ओर, कुछ क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट अभी भी बुनियादी वर्गों के व्यापक जन संगठन बनाने के बजाय अति वामपन्थी दुस्साहसवादी लाइन लागू कर रहे हैं।

हम समझते हैं कि व्यावहारिक ठोस कामों के नाम पर सिर्फ़ आर्थिक माँगों तक सीमित रहना, या फिर इन्हें एकदम ही छोड़ देना दोनों ग़लत है। मजदूर वर्ग को आर्थिक माँगों के साथ ही उसके राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ने की शिक्षा देनी होगी तथा साथ ही उनके बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई को तेज करना होगा। इस तरह विभिन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों की सोच प्रयोगों में उतरेगी, उनके बीच का ठहराव टूटेगा और आपसी बहस-विचार को नयी गति मिलेगी।

हम 'बिगुल' को इसका साधन बनाना चाहते हैं। हम इसके माध्यम से सभी सर्वहारा क्रान्तिकारियों को भारतीय क्रान्ति की समस्याओं पर खुली बहस का न्यौता देते हैं। यह अच्छा रहेगा। इससे मेहनतकश आबादी की राजनीतिक शिक्षा का काम भी तेज होगा और भविष्य में बनने वाली क्रान्तिकारी पार्टी का उनमें व्यापक आधार तैयार होगा।

'बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

(1.) 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मजदूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मजदूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मजदूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

(2.) 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मजदूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

(3.) 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

(4.) 'बिगुल' मजदूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर (कम्युनिस्टों) और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कृतारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

(5.) 'बिगुल' मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

इन संकल्पों के साथ हम यह एक शुरुआत कर रहे हैं जैसेकि सैकड़ों मील लम्बी यात्रा की शुरुआत भी एक छोटे से कदम से ही होती है।

(बिगुल के स्वरूप पर आत्माराम का पत्र), (जुलाई-अगस्त 1996)

कुछ ज़्यादा ही लाल... कुछ ज़्यादा ही अन्तरराष्ट्रीय

पिछले दिनों 'बिगुल' को मुम्बई में रहने वाले एक मार्क्सवादी बुद्धिजीवी आत्माराम जी का एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें उन्होंने 'बिगुल' से प्रकाशित सामग्री की आलोचना प्रस्तुत करते हुए बहुत सारे सुझाव दिये हैं। चूँकि इस पत्र में कही गयी बहुत सी बातें एक क्रान्तिकारी मजदूर अख़बार के उद्देश्य और स्वरूप के बारे में बुनियादी सवाल उठाती हैं, इसलिए हम अपने पाठकों के लिए श्री आत्माराम का पत्र और उसका विस्तृत जवाब प्रस्तुत कर रहे हैं। – सम्पादक

साथी डॉ. दूधनाथ

सलाम!

आपके सम्पादन में प्रकाशित 'बिगुल' के दो अंक मिले धन्यवाद!

दोनों अंक पढ़े। अंक अन्तरराष्ट्रीय स्तर के हैं। अंकों में ज़रूरत से ज़्यादा मार्क्सवाद-लेनिनवाद है और मसला यह है कि क्या वाकई ये अख़बार हिन्दुस्तान के मजदूरों के लिए निकाला गया। जबकि इन अंकों में यदा-कदा कहीं-कहीं हिन्दुस्तान दिखायी देता है।

ऐसा क्यों किया जाये। यह काम तो इस तरह लगता है जैसेकि हम मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति अपनी वफ़ादारी दिखा रहे हैं, हमें भारत के मजदूर-किसानों से क्या लेना-देना। दूसरा मसला यह कि हमारा ज़्यादातर मजदूर-किसान अभी उतना अन्तरराष्ट्रीय नहीं हुआ है, जितना आप खुद हैं और समझते हैं। बहरहाल रेल मजदूरों के बारे में जानकारी और संघर्ष के बारे में जो छपा है, बेहतर है।

इतना सुन्दर अख़बार, इतना गहरा लाल रंग, मानो 1905 से 1917 की रूसी क्रान्ति की याद दिलाता है – जबकि यह लाल-लाल दिखावा – भारतीय मजदूरों के संघर्ष में कोई खास मदद करता दिखायी नहीं देता।

कृपया, जहाँ तक 'नयी समाजवादी क्रान्ति की ज्वाला भड़काने' का सवाल है उसके लिए एक सही पार्टी चाहिए और उस पार्टी के नेतृत्व में मजदूर-किसानों का संगठन होना चाहिए। हम सभी जानते हैं, हमारा देश सही अर्थों में एक सही पार्टी की ज़रूरत महसूस करता है और एक आप हैं जो हर लफ़्ज़ को अन्तरराष्ट्रीय बनाये चले जा रहे हैं – अगर यह आपकी राजनैतिक लाइन है तो भी संवाद होना चाहिए और अगर महज जज़्बात है तो भी बहस की ज़रूरत है – हमारा हर लफ़्ज़ इस मुल्क की मजदूर-किसान, मध्यमवर्ग और साधारण जनता के प्रबोधन और उसके संघर्ष को लामबन्द करने के लिए होना चाहिए।

इतिहास (सिवाय भारत के) में घटित घटनाओं को दुबारा छापकर आप बहुत बड़े मार्क्सवादी हो सकते हैं परन्तु उससे मजदूरों व ग़रीब जनता को कोई भला नहीं होने वाला।

विचारणीय मुद्दा है – मजदूरों के लिए निकलने वाला अख़बार का हर लफ़्ज़ मजदूरों के लिए, उनकी समस्याओं के लिए और भारतीय परिस्थितियों में उसके टास्क को सम्बोधित हो।

और अगर आपने द्रव्य और श्रम खर्च करने का बीड़ा उठा ही लिया है तो उसका इस्तेमाल मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार के लिए कम और मजदूर-किसानों से सरोकार रखने वाले संघर्षों के लिए ज़्यादा हो। मैं उम्मीद करता हूँ आप ग़ौर करेंगे। बिगुल को इण्डियन वर्किंग क्लास ओरियण्टेड बनाना चाहिए न कि महज अन्तरराष्ट्रीयवादी!

बिगुल की बेहतरी में

– आत्माराम, मुम्बई

इतने ही लाल... और इतने ही अन्तरराष्ट्रीय की आज जरूरत है

प्रिय साथी आत्माराम जी, बिगुल के “गहरे लाल रंग” से आपकी आँखों को पीड़ा पहुँची और इसके “ज़्यादा” और “महज़” अन्तरराष्ट्रीयवादी चरित्र की गन्ध से आपके नथुने सिकुड़ गये। हमें अफ़सोस हुआ! पर हम आपकी शिकायत का सबक नहीं जान पाये। माफ़ कीजियेगा! “इतना गहरा लाल रंग!” आपके ख़याल से इसे कितना हल्का कर दिया जाये? कहीं आप इसे भगवा के करीब तो नहीं ले जाना चाहते हैं? हमें अभी पिछले ही दिनों पता चला कि आपके बम्बई में कुछ लोग ऐसा कर रहे हैं। वे भाजपा-शिवसेना को राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि मानते हैं और साम्राज्यवाद की दलाल कांग्रेस से लड़कर राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति करने के लिए उनके साथ मोर्चा बनाने का ‘काल’ दे रहे हैं। उनके सिद्धान्तकार महोदय बाल ठाकरे के अख़बार ‘सामना’ में कॉलम लिखकर “मा-ले वादियों” को पानी पी-पीकर कोसते रहते हैं और मज़दूर वर्ग को संगठित करने के बजाय भारत के छोटे उद्योगपतियों के संकट से परेशान करवटें बदलते रहते हैं!

साथी, मज़दूरों के सच्चे हरावलों को गहरे लाल रंग से न डरना चाहिए न ही बिदकना चाहिए।

आपके ख़याल से मार्क्सवाद-लेनिनवाद से वफ़ादारी दिखाने का मतलब है भारत के मज़दूर-किसानों से कुछ भी लेना-देना न होना। या यूँ कहें कि मज़दूर-किसानों से यदि कुछ लेना-देना है तो मार्क्सवाद-लेनिनवाद से बेवफ़ाई करनी होगी। आपका यह विलोमानुपाती नियम गले के नीचे उतारना शायद नये नुस्खों-नियमों के भूखे किसी प्रोफ़ेसर या अहमक के लिए ही मुमकिन होगा। भारत के मज़दूर-किसानों के प्रति वफ़ादारी का तकाज़ा है कि सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान – मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति वफ़ादार रहा जाये। खुद आपकी ही नसीहत है कि ‘नयी समाजवादी क्रान्ति की ज्वाला भड़काने’ (उद्धरण चिह्नों के द्वारा हमारे “अतिउत्साह” पर व्यंग्य करने की कोशिश की है आपने शायद!) के लिए “एक सही पार्टी चाहिए और उस पार्टी के नेतृत्व में मज़दूर-किसानों का संगठन होना चाहिए।” मगर जनाब, मार्क्सवाद-लेनिनवाद का ककहरा जानने वाला भी जानता है कि एक सही पार्टी-निर्माण और गठन की दिशा में आगे बढ़ते हुए सर्वोपरि प्रश्न विचारधारा का है। सी.पी.आई.-सी.पी.एम. के संशोधनवाद के दौर ने और उनके अब तक के आचरण ने, वामपन्थी दुस्साहसवादी भटकाव के चलते मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिविर के बिखराव ने, डेड सियाओ-पिड के बाज़ार-समाजवाद ने, रूस और पूर्वी यूरोप में संशोधनवादियों की सत्ता के पतन और नवक्लासिकी पश्चिमी ढंग के खुले पूँजीवाद के आगमन की परिस्थितियों ने और भाँति-भाँति के नववामपन्थियों तथा पश्चिमी कलमघसीटों ने अलग-अलग ढंग से सर्वहारा क्रान्ति की विचारधारा पर जितना धूल और राख फेंका है और व्यापक मज़दूर अवाम को जिस हद तक उसकी विचारधारा से दूर किया है, उसे देखते हुए, हम समझते हैं कि मज़दूर वर्ग के बीच (और किसानों एवं प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी समुदाय के बीच भी) मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विचारधारा का, विश्व सर्वहारा क्रान्तियों की विस्मृत उपलब्धियों का और राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय वर्ग संघर्षों के भुला दिये गये अनुभवों का व्यापक और घनीभूत प्रचार आज एक सर्वभारतीय पार्टी के पुनर्गठन के उद्यम का एक बुनियादी और अनिवार्यतः महत्वपूर्ण पहलू है। दक्षिणपन्थी और “वामपन्थी” अवसरवाद से सही मार्क्सवाद को अलगाना और क्रान्ति के सच्चे मार्गदर्शक सिद्धान्त से व्यापक मेहनतकश अवाम को परिचित कराना आज का सबसे पहला काम है। ज़ाहिरा तौर पर, यह प्रचार महज़ अख़बार निकाल कर और भाषण देकर नहीं हो सकता। इस अख़बार की प्रासंगिकता ही उन व्यावहारिक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए है जो मज़दूरों के बीच काम करते हैं, उनके रोज़मर्रा की लड़ाइयों – आर्थिक संघर्षों और राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्षों में हिस्सा लेते हैं, उनके जन-संगठनों में काम करते हैं। कुछ वाम-नाम बुद्धिजीवियों की धारणा है कि एक सही पार्टी बनाने के लिए सिद्धान्त और विचारधारा पर, “लाल” और “अन्तरराष्ट्रीय” भाषा में बहस तो सिर्फ़ क्रान्तिकारी गुणों के नेतृत्वों के बीच और मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के बीच होनी चाहिए और अनपढ़-गँवार मज़दूरों के लिए तो सिर्फ़ उनके आर्थिक संघर्षों और जीवन के हालात की रिपोर्टिंग वाले ‘ट्रेडयूनियन मुखपत्र’ निकाले जाने चाहिए। यह एक कूपमण्डूकतापूर्ण, किताबी निठल्ले मार्क्सवादी की या एक मेंशेविक की ही धारणा हो सकती है।

पार्टी-निर्माण और गठन के लिए मजदूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रचार और इसके लिए एक मजदूर अखबार की ज़रूरत, प्रकृति एवं दायित्व के बारे में लेनिन ने मेशेविकों के साथ बहस करते हुए काफी साफ़-साफ़ लिखा है। आप जैसे सुधी व्यक्ति को भला मैं कैसे यह राय दूँ कि उसे भी ज़रा पढ़ लें! या हो सकता है आपके लेखे वह सबकुछ आज 'आउटडेटेड' हो चुका हो!

अन्तरराष्ट्रीयतावादी होने से न जाने क्यों आपको इतना गुस्सा आता है? "महज" जोड़ने से आपका क्या मतलब है? क्या 'बिगुल' के तीनों अंकों की सामग्री "महज अन्तरराष्ट्रीयतावादी" है? न जाने आप अन्तरराष्ट्रीयतावाद से क्या समझते हैं? सच तो यह है कि सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद और मजदूर आन्दोलन में अन्धराष्ट्रवादी भटकावों पर अभी तक हम एक भी लेख नहीं दे पाये जिसका हमें अफ़सोस है। जहाँ तमाम वाम बुद्धिजीवियों की आत्मा डॉ. राम विलास शर्मा की तरह भारत-व्याकुल और अतीत-व्याकुल हो रही हो; जहाँ बहुतेरे मा-ले संगठन मजदूर वर्ग से (और किसानों से भी) अधिक (बल्कि उसे छोड़कर) राष्ट्रीयता की मुक्ति के बारे में चिन्तित हों (और यहाँ तक कि कुछ तो सिर्फ़ केरल या तमिलनाडु में ही जनवादी क्रान्ति का टास्क तय कर चुके हों!); जहाँ कुछ नामधारी मार्क्सवादी क्रान्तिकारी क्रान्ति के मुख्य नेतृत्वकारी वर्ग – सर्वहारा वर्ग को संगठित करने की समस्याओं पर रत्तीभर सोचे या प्रयास किये बिना क्रान्ति के "मित्र" राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की तलाश में इतने पगला गये हों कि भाई भरत की तरह भाजपा-शिवसेना की खड़ाऊँ पूजने लगे हों; उस देशकाल में हम तो समझते हैं कि सर्वहारा वर्ग को उसके अन्तरराष्ट्रीयतावादी चरित्र और कार्यभार से परिचित कराना बहुत ज़रूरी है।

मजदूर क्रान्ति के चरित्र और कार्यभार बताने के लिए छापे गये लेनिन की पुस्तिका के अंश, मई दिवस पर दी गयी सामग्री या जन्मदिन के अवसर पर गोकर्ण पर छापे गये लेख, पेरू और बोलीविया में संघर्ष की रिपोर्ट या माओ-लेनिन के उद्धरणों से आपको 'बिगुल' कुछ ज़्यादा ही अन्तरराष्ट्रीय लगने लगा (वैसे ऐसी सामग्री कुल छपी सामग्री के एक चौथाई से भी कम है, तीन चौथाई सामग्री देश की राजनीति और गाँवों-शहरों की मेहनतकश आबादी की जिन्दगी जैसे विषयों पर ही केन्द्रित है)! मार्क्स, लेनिन, माओ के विचारधारात्मक महत्त्व के लेखों-उद्धरणों को राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय की श्रेणी में बाँटना मूर्खता ही कहलायेगी। दूसरे देशों के मजदूर आन्दोलनों-संघर्षों पर रपट और मार्क्स-लेनिन-माओ के लेखों के बीच फ़र्क करना होगा। "देसीपन" के ऐसे ही कुछ दुराग्रहियों को आज मार्क्स-लेनिन के विचार "यूरोसेण्ट्रिक" लगने लगे हैं। (उनके ख़याल से बुद्ध के विचार भी 'इण्डोसेण्ट्रिक और माओ के 'साइनोसेण्ट्रिक' हों शायद!)

आपने याद दिलाया है कि "हमारा ज़्यादातर मजदूर-किसान अभी उतना अन्तरराष्ट्रीय नहीं हुआ है।" बिल्कुल सही बात है। अगर हो गया होता तब तो अन्तरराष्ट्रीयतावाद के प्रचार की कोई ज़रूरत नहीं होती। "उतना अन्तरराष्ट्रीय" नहीं है, तभी तो उसके "राष्ट्रवादी" भ्रान्तियों-पूर्वाग्रहों से लड़ने की और सर्वहारा वर्ग एवं सर्वहारा क्रान्ति के अन्तरराष्ट्रीयतावादी चरित्र और कार्यभार के ज़्यादा से ज़्यादा प्रचार की ज़रूरत है!

'बिगुल' का गहरा लाल रंग यदि आपको (चाहे व्यंग्य करने के लिए ही सही!) 1905 से 1917 की रूसी क्रान्ति की याद दिलाता है, तो यह गर्व की बात है हमारे लिए। मगर हमारे इस उद्यम में आपको "लाल-लाल दिखावा" लगता है तो हम कुछ नहीं कर सकते। हाँ, बिना किसी लाल-लाल दिखावे के आप मजदूर वर्ग के बीच प्रचार और संगठन की जो भी कार्रवाईयाँ कर रहे हों, उनके अनुभवों से हमें तथा 'बिगुल' के पाठकों को अवश्य शिक्षित कीजियेगा। बिना अन्तरराष्ट्रीय और लाल-लाल दिखावे के आप भारतीय जनता को लामबन्द करने के लिए अपने एक-एक लफ़्ज़ का इस्तेमाल कैसे कर रहे हैं और एक सही पार्टी-निर्माण के लिए क्या कुछ कर रहे हैं, अवश्य सूचित कीजियेगा। 'बिगुल' पर हम जो 'द्रव्य और श्रम' व्यर्थ खर्च कर रहे हैं, उसकी चिन्ता के लिए धन्यवाद! सिर्फ़ यह बता देना चाहते हैं कि

- (1) गाँवों-शहरों के मजदूरों के बीच यह सांगठनिक-राजनीतिक कार्यों के एक औजार के रूप में निकाला जा रहा है,
- (2) इसका वितरण औद्योगिक मजदूरों के अतिरिक्त खेत मजदूरों और ग़रीब किसानों में भी होता है,
- (3) 'बिगुल' लेकर मजदूरों के बीच जाने वाले साधियों और टोलियों को उनसे सकारात्मक प्रतिक्रिया और ठोस सुझाव बड़े पैमाने पर मिल रहे हैं और,

- (4) तीन अंकों में इसकी प्रसार संख्या तीन गुनी हो गयी है।

बेहतर तो यह होता कि 'बिगुल' के पीछे निहित जो बोध और धारणा हमने प्रवेशांक के विशेष सम्पादकीय ('एक नये क्रान्तिकारी मजदूर अखबार की ज़रूरत') में दिया है; और 'बिगुल' के जो उद्देश्य घोषित किये हैं, आप सामान्य नसीहतें देने और झाड़ पिलाने के बजाय उसकी आलोचना प्रस्तुत करते और हमारी सोच के भटकावों को रेखांकित करते। आशा है, आप आगे ऐसा करेंगे और हमारी बहस जारी रहेगी।

– सम्पादक

‘बिगुल’ के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार

(बिगुल, अप्रैल 1999)

‘बिगुल’ का पाठक कौन है? मजदूरों के किस हिस्से तक पहुँचना इसका मक़सद है? – इन सवालों पर अख़बार से जुड़े संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं-हमदर्दों के बीच लगातार बहस-बातचीत होती रहती है। कुछ हलकों से, और विशेष तौर पर बुद्धिजीवी साथियों की ओर से यह शिकायत भी आती है कि आम मजदूर या औसत मजदूरों की व्यापक आबादी को बिगुल की भाषा या लेख समझ में नहीं आते।

यह बहस महज़ एक तकनीकी-व्यावहारिक प्रश्न पर केन्द्रित नहीं है। यह मजदूरों के बीच प्रचार और संगठन की कार्यवाही तथा मजदूर वर्ग के राजनीतिक अख़बार के प्रति दो पहुँचों या नज़रियों का टकराव है। यह मजदूर वर्ग की चेतना के क्रान्तिकारीकरण के प्रति दो तरह की सोचों या बोधों के बीच की बहस है।

‘बिगुल’ के प्रवेशांक से लेकर अब तक, कई बार इसके स्वरूप के बारे में यह साफ़ किया जा चुका है कि बिगुल किसी ट्रेडयूनियन का मुखपत्र कदापि नहीं है। इसका दायरा अलग है। ‘बिगुल’ का सम्पादकीय उद्देश्य है – मजदूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार की कार्यवाही चलाना, मजदूर वर्ग को उसके ऐतिहासिक मिशन की याद दिलाना, मजदूर क्रान्ति की विचारधारा एवं उसके रास्ते से उसे परिचित कराना तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन के निर्माण व गठन की दिशा में उसे प्रेरित और उन्मुख करना।

कुछ राजनीतिक कार्यकर्ताओं की यह राह है कि मजदूर वर्ग के बीच सीधे-सीधे विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार से अख़बार को बचना चाहिए और आर्थिक संघर्षों के मुद्दों एवं कार्यवाहियों तथा आम जनवादी अधिकार के सवालों के इर्दगिर्द लेख-टिप्पणियाँ-रपटें आदि छापकर आम मजदूरों की चेतना के स्तर को ऊँचा उठाना चाहिए। ऐसे लोगों का मानना है कि इसी प्रक्रिया में आम मजदूरों में से कुछ वर्ग-सचेत मजदूर और उनमें से कुछ क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट तैयार होंगे। यह अर्थवाद और सामाजिक जनवाद की एक नयी मेशेविक प्रवृत्ति है, यह एक तरह की अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी प्रवृत्ति है जो मजदूर वर्ग की पार्टी की अपरिहार्यता के बजाय यूनियन के संघर्षों को ही मुक्ति का मार्ग मानती है या महज़ आर्थिक लड़ाइयाँ लड़ने व यूनियन खड़ी करना सर्वोपरि “क्रान्तिकारी काम” मानती है और सोचती है कि इसी के ज़रिये मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के गठन और निर्माण का काम भी पूरा हो जायेगा। चुनावी वामपन्थी तो ऐसा सोचते ही थे, क्रान्तिकारी शिविर में भी कुछ हिस्से मजदूर वर्ग के बीच इसी तरह से काम करने के बारे में सोच रहे हैं और अर्थवाद के समान्तर जुझारू अर्थवाद और ट्रेडयूनियन के सामने जुझारू ट्रेडयूनियनवाद का मॉडल खड़ा करने की कोशिश कर रहे हैं। ऐसे लोगों को इस विषय पर लेनिन की शिक्षाओं के ककहरे से परिचित होने की ज़रूरत है।

हमारी यह स्पष्ट सोच है कि अख़बार के ज़रिये सर्वोपरि तौर पर आज मजदूर वर्ग के बीच विचारधारा को ले जाने की ज़रूरत है, क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार की कार्यवाही संगठित करने की ज़रूरत है, उसे सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान के मार्गदर्शन में निर्मित-गठित पार्टी की अपरिहार्य ज़रूरत से परिचित कराने की ज़रूरत है। और ऐसा मजदूर अख़बार सिर्फ़ राजनीतिक प्रचारक ही नहीं, बल्कि ‘राजनीतिक संगठनकर्ता’ भी होगा। ‘राजनीतिक संगठनकर्ता’ होगा वह राजनीतिक संगठनकर्ताओं के माध्यम से। इस अख़बार का एक-एक एजेण्ट, विक्रेता, हॉकर, प्रचारक मजदूर वर्ग का क्रान्तिकारी संगठनकर्ता होगा जो अख़बार के इर्द-गिर्द मजदूरों के अध्ययन-मण्डल और प्रचार-दस्ते संगठित करते हुए उनके रोज़मर्रा की जिन्दगी और आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों में शिरकत करेगा और इस प्रक्रिया में मजदूरों की तमाम स्थापित बुर्जुआ और सुधारवादी ट्रेडयूनियनों के भीतर क्रान्तिकारी केन्द्रक या कोशिकाएँ या नाभिक संगठित करने का काम करेगा। अलग से ट्रेडयूनियन की एक और दूकान खोलकर अतिवामपन्थी “बचकाना मर्ज” का शिकार होने के बजाय, लेनिन की शिक्षा के अनुसार, ‘हर उस जगह जाना होगा, जहाँ मजदूर वर्ग है!’ आर्थिक प्रश्नों पर संघर्ष संगठित करना राजनीतिक प्रचार एवं कार्यवाही की अनिवार्य बुनियादी पूर्व शर्त है, पर उसकी पहली मंज़िल नहीं। बोल्शेविकों और मेशेविकों के बीच अहम मतभेद का प्रश्न यह भी था। मजदूर वर्ग के आन्दोलन के भीतर क्रान्ति की विचारधारा “बाहर से” डालनी होती है और मजदूर वर्ग का क्रान्तिकारी राजनीतिक अख़बार यह करते हुए सर्वहारा वर्ग की पार्टी के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है।

हम समझते हैं कि भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र में जब तक गुंजाइश बची हुई है, क्रान्तिकारी विचारधारात्मक प्रचार की

कार्रवाई जमकर और व्यापक तथा खुले तौर पर चलानी ही चाहिए। जब यह गुंजाइश नहीं रहेगी, तब भी क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार जारी रहेगा, और तरीकों से, और रास्तों से। सेंसर या बन्दिशें इस काम को कठिन बना सकती हैं, रोक नहीं सकतीं। कभी रोक भी नहीं पायी हैं।

इस पूरे परिप्रेक्ष्य में जब हम 'बिगुल' की विषयवस्तु पर सोचते हैं तो यह साफ़ है कि यह ज़्यादातर अपेक्षाकृत उन्नत चेतना वाले उन मज़दूरों को सम्बोधित होती है, जो सबसे पहले सर्वहारा क्रान्ति के विचार को आत्मसात करते हैं और जिनके बीच से मज़दूर आन्दोलन के हरावल पैदा होते हैं। ऐसे मज़दूर पाठक ज़ाहिरा तौर पर कम हैं, पर पूरे मज़दूर आन्दोलन के लिए वे सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं और विभिन्न स्तरों पर क्रान्तिकारी कोर उन्हीं से निर्मित होंगे। इन उन्नत चेतना के मज़दूरों के बाद दूसरा स्तर औसत मज़दूरों का है। ये मज़दूर भी क्रान्तिकारी प्रचार के दायरे में आते हैं, पर अख़बार के बहुतेरे अहम सैद्धान्तिक मसलों को, वे बिना अपने अधिक समझदार कॉमरेडों की मदद के नहीं समझ पाते। लेनिन के अनुसार, मज़दूर अख़बार इन औसत मज़दूरों की समझ के स्तर तक अपने को नीचे नहीं लाता, बल्कि उनकी समझ के स्तर को ऊपर उठाता है।

औसत से नीचे के मज़दूरों के संस्तर, अधिकांश अख़बार, बल्कि मुमकिन है कि पूरा अख़बार ही नहीं समझ सकें। पर मज़दूर अख़बार को मज़दूरों के इस संस्तर की चेतना के हिसाब से ढाला नहीं जाना चाहिए। इन तक विचारधारा, प्रचार और कार्रवाइयों के अन्य साधनों-माध्यमों से (पर्चे, पोस्टर, भाषण, नुक्कड़ नाटक-गायन आदि) पहुँचती है और ज़्यादातर अपने उन्नत मज़दूर साथियों के साहचर्य और संवाद से पहुँचती है। सर्वहारा वर्ग के निम्नतर संस्तरों की चिन्ता में उन्नत मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा के काम को छोड़ देने से सर्वहारा संगठनकर्ताओं की भर्ती बाधित होगी, पार्टी-निर्माण का कार्य बाधित होगा और निम्नतर संस्तर के मज़दूर भी अपनी उसी स्थिति में पड़े रह जायेंगे।

क्रान्तिकारी व्यावहारिक हों, यह भी ज़रूरी है। सिर्फ़ सबसे पिछड़े मज़दूरों के लिए, या सभी मज़दूरों के लिए एक साथ, छाती पीटना किताबी आदर्शवादी बुद्धिजीवियों की फ़ितरत होती है, हमें इससे बचना चाहिए।

कुछ क्रान्तिकारी, सहृदय बुद्धिजीवी तो ऐसे भी मिलेंगे, जो "आम लोगों" के लिए, एकदम आम मज़दूरों के लिए, इसीलिए लिखने पर बल देते हैं कि वे मसलों की गम्भीर समझ ही नहीं रखते। चूँकि उनकी खुद की विचारधारात्मक समझ दुर्बल होती है, अतः वे "गम्भीर" लेखों के बजाय "लोकप्रिय" लेखन की दुहाई देते हैं। पर इस कोशिश में वे महज़ लोकरंजक, सस्ता, लिजलिजा, प्रहसनात्मक सुधारवादी लेखन या जुमलेबाज़ी ही कर पाते हैं, क्योंकि आम लोगों को समझ में आने लायक सही, वैज्ञानिक बात लिखने के लिए मामले की और अधिक गहरी-गम्भीर, तथा साथ ही व्यावहारिक समझ की ही ज़रूरत होती है। वरना सर्वहारा के लिए लिखा जाने वाला सारा साहित्य "चना जोर गरम" का गाना बनकर रह जायेगा। बहरहाल, इस कोटि के बुद्धिजीवी "ज्ञान-प्रसारकों" पर अलग से फिर कभी चर्चा की जायेगी।

एक और सूचना जो हम अपने पाठकों और बिरादरों तक पहुँचाना चाहते हैं, वह यह कि आज 'बिगुल' की कम से कम पचहत्तर फ़ीसदी खपत मज़दूरों के बीच होती है और मुख्यतः मज़दूरों की मदद के बूते पर ही अपने पूरे ताने-बाने सहित यह आर्थिक तौर पर भी स्वावलम्बी है। मज़दूर पाठक मुख्यतः हमसे यह माँग करते हैं कि अख़बार में संघर्षों और उनकी जिन्दगी के हालात पर ठोस रपटें और अधिक होनी चाहिए। यह माँग हम पूरी तरह स्वीकार करते हैं और इसमें यदि कोई कमी है तो वह हमारे प्रतिनिधियों-रिपोर्टर्स-एजेण्टों की और हमारी क्षमता की कमी के कारण है। विचारधारात्मक-राजनीतिक सामग्री ज़्यादा है या जटिल है, यह शिकायत आज तक सिर्फ़ कुछ एक पिछड़ी चेतना वाले मज़दूरों ने की। ट्रेडयूनियनवादी मज़दूर नेताओं ने इसे "उग्रपन्थी" अख़बार कहा और उनका यह कहना स्वाभाविक है।

कुछ बिरादर संगठनों की यह शिकायत सुनने में आयी कि मज़दूर वर्ग में सीधे-सीधे विचारधारा के प्रचार की यह कार्रवाई ग़लत है। हमारे ख़याल से अपने अल्पज्ञान-सन्तोष और अहम्मन्यता के कारण ये साथी मेशेविक विचारों से बुरी तरह ग्रस्त हैं। "व्यक्तिवाद-विरोध" की मध्यवर्गीय बानगी प्रस्तुत करने का भला इससे अधिक कूपमण्डूकतापूर्ण उदाहरण क्या हो सकता है कि अपने पत्रों में लेखकों के नाम से लेख देना ये लोग व्यक्तिवादी काम मानते हैं। यानी सारा कृतित्व पूरे समूह का! यह नायाब क़दम तो लेनिन, स्तालिन और माओ की पार्टियों को भी नहीं सूझा था! दरअसल क्रान्तिकारी सर्वहारा आन्दोलन के शोचनीय बिखराव ने ही आज ऐसे अधकचरे मौलिक सिद्धान्तकारों को जन्म दिया है।

लेखों की विषय-वस्तु और रूप की जटिलता व आम मज़दूरों के लिए दुरूह होने की शिकायत अब तक सिर्फ़ कुछ बुद्धिजीवी साथियों की ओर से आयी है, वह भी तब जबकि उनके पास मज़दूरों के बीच अख़बार लेकर जाने के कोई ख़ास अनुभव नहीं थे। या तो मज़दूर वर्ग की समझ और चेतना के बारे में ऐसे साथियों की सोच मनोगत है या फिर मज़दूर अख़बार के लक्ष्य व स्वरूप के बारे में वे स्पष्ट नहीं हैं।

'बिगुल' अख़बार के चरित्र, उद्देश्य, स्वरूप और इसके पाठक समुदाय से सम्बन्धित अपनी ऊपर उल्लिखित आपसी बहस को और अधिक धारदार बनाने तथा मुद्दों पर सम्पादकीय अवस्थिति को और अधिक साफ़ करने के लिए, इस बार विशेष सामग्री के तौर पर, हम लेनिन की संग्रहीत रचनाओं (अंग्रेज़ी संस्करण) के चौथे खण्ड में शामिल, 1899 के अन्त में लिखित उनके

एक लेख 'रूसी सामाजिक जनवाद में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति' का एक अंश प्रकाशित कर रहे हैं। यह लेख रूसी अर्थवादियों के पत्र 'राबोचाया मीस्ल' (मज़दूर विचार) के राजनीतिक प्रचार-कार्य, राजनीतिक और आर्थिक संघर्षों के रिश्तों तथा अख़बार की भूमिका आदि विषयों से सम्बन्धित भ्रामक एवं ग़लत विचारों के ख़िलाफ़ लिखा गया था। लेख के प्रस्तुत हिस्से में इसी प्रश्न पर विचार किया गया है कि मज़दूरों का क्रान्तिकारी राजनीतिक अख़बार मुख्यतः मज़दूर वर्ग के किस हिस्से के लिए होता है तथा प्रचार और संगठन के सन्दर्भ में उसकी ठोस नीति और कार्यनीति क्या होनी चाहिए?

लेनिन के महत्त्वपूर्ण लेख का यह अंश इस महामानव की जन्मतिथि (22 अप्रैल) के अवसर पर हमारी श्रद्धांजलि भी है। लेनिन-जन्मदिवस के अवसर पर, हम अपनी ठोस समस्याओं को सुलझाने के लिए उनसे मार्गदर्शन लेकर उन्हें याद करना चाहते हैं।

(अप्रैल 1999, लेनिन का लेख)

मज़दूर अख़बार – किस मज़दूर के लिए?

(क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार की कुछ समस्याएँ)

सभी देशों में मज़दूर आन्दोलन का इतिहास यह दिखाता है कि मज़दूर वर्ग के उन्नततर संस्तर ही समाजवाद के विचारों को अपेक्षतया अधिक तेज़ी के साथ और अधिक आसानी के साथ अपनाते हैं। इन्हीं के बीच से, मुख्य तौर पर, वे अग्रवर्ती मज़दूर आते हैं, जिन्हें प्रत्येक मज़दूर आन्दोलन आगे लाता है, वे मज़दूर जो मेहनतकश जन-समुदाय का विश्वास जीत सकते हैं, जो खुद को पूरी तरह सर्वहारा वर्ग की शिक्षा और संगठन के कार्य के लिए समर्पित करते हैं, जो सचेतन तौर पर समाजवाद को स्वीकार करते हैं और यहाँ तक कि, स्वतन्त्र रूप से समाजवादी सिद्धान्तों को निरूपित कर लेते हैं। हर सम्भावनासम्पन्न मज़दूर आन्दोलन ऐसे मज़दूर नेताओं को सामने लाता रहा है, अपने पृष्ठों और वाइयाँ, वाइटलिंग और बेबेल पैदा करता रहा है। और हमारा रूसी मज़दूर आन्दोलन भी इस मामले में यूरोपीय आन्दोलन से पीछे नहीं रहने वाला है। आज जबकि शिक्षित समाज ईमानदार, गैरकानूनी साहित्य में दिलचस्पी खोता जा रहा है, मज़दूरों के बीच ज्ञान के लिए और समाजवाद के लिए एक उत्कट अभिलाषा पनप रही है, मज़दूरों के बीच से सच्चे वीर सामने आ रहे हैं, जो अपनी नारकीय जीवन-स्थितियों के बावजूद, जेलखाने की मशक़त जैसे कारख़ाने के जड़ीभूत कर देने वाले श्रम के बावजूद, ऐसा चरित्र और इतनी इच्छाशक्ति रखते हैं कि लगातार अध्ययन, अध्ययन और अध्ययन के काम में जुटे रहते हैं और खुद को सचेतन सामाजिक-जनवादी (कम्युनिस्ट) – “मज़दूर बौद्धिक” बना लेते हैं। रूस में ऐसे “मज़दूर बौद्धिक” अभी भी मौजूद हैं और हमें हर मुमकिन कोशिश करनी चाहिए कि इनकी क़तारें लगातार बढ़ती रहें, इनकी उन्नत मानसिक ज़रूरत पूरी होती रहे और कि, इनकी पाँतों से रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी (रूसी कम्युनिस्ट पार्टी का तत्कालीन नाम) के नेता तैयार हों। जो अख़बार सभी रूसी सामाजिक जनवादियों (कम्युनिस्टों) का मुखपत्र बनना चाहता है, उसे इन अग्रणी मज़दूरों के स्तर का ही होना चाहिए, उसे न केवल कृत्रिम ढंग से अपने स्तर को नीचा नहीं करना चाहिए, बल्कि उल्टे उसे लगातार ऊँचा उठाना चाहिए, उसे विश्व सामाजिक-जनवाद (यानी विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन) के सभी रणकौशलात्मक, राजनीतिक और सैद्धान्तिक समस्याओं पर ध्यान देना चाहिए। केवल तभी मज़दूर बौद्धिकों की माँगें पूरी होंगी, और वे रूसी मज़दूरों के और **परिणामतः** रूसी क्रान्ति के ध्येय को अपने हाथों में ले लेंगे।

संख्या में कम अग्रणी मज़दूरों के संस्तर के बाद औसत मज़दूरों का व्यापक संस्तर आता है। ये मज़दूर भी समाजवाद की उत्कट इच्छा रखते हैं, मज़दूर अध्ययन-मण्डलों में भाग लेते हैं, समाजवादी अख़बार और किताबें पढ़ते हैं, आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य में भाग लेते हैं और उपरोक्त संस्तर से सिर्फ़ इसी बात में अलग होते हैं कि ये सामाजिक जनवादी मज़दूर आन्दोलन के पूरी तरह स्वतन्त्र नेता नहीं बन सकते। जिस अख़बार को पार्टी का मुखपत्र होना है, उसके कुछ लेखों को औसत मज़दूर नहीं समझ पायेगा, जटिल सैद्धान्तिक या व्यावहारिक समस्या को पूरी तरह समझ पाने में वह सक्षम नहीं होगा। लेकिन इसका यह मतलब क़तई नहीं निकलता कि अख़बार को अपना स्तर अपने व्यापक आम पाठक समुदाय के स्तर तक नीचे लाना चाहिए। इसके उलट, अख़बार को उनका स्तर ऊँचा उठाना चाहिए, और मज़दूरों के बीच के संस्तर से अग्रणी मज़दूरों को आगे लाने में मदद करनी चाहिए। **स्थानीय** व्यावहारिक कामों में डूबे हुए और मुख्यतः मज़दूर आन्दोलन की घटनाओं में तथा आन्दोलनात्मक प्रचार की फ़ौरी समस्याओं में दिलचस्पी लेने वाले ऐसे मज़दूरों को अपने हर क़दम के साथ पूरे रूसी मज़दूर आन्दोलन का, इसके ऐतिहासिक कार्यभार का और समाजवाद के अन्तिम लक्ष्य का विचार जोड़ना चाहिए। अतः उस अख़बार को, जिसके अधिकांश पाठक औसत मज़दूर ही हैं, हर स्थानीय और संकीर्ण प्रश्न के साथ समाजवाद और राजनीतिक संघर्ष को जोड़ना चाहिए।

और अन्त में, औसत मज़दूरों के संस्तर के बाद वह व्यापक जनसमूह आता है जो सर्वहारा वर्ग का अपेक्षतया निचला संस्तर होता है। बहुत मुमकिन है कि एक समाजवादी अख़बार पूरी तरह या तक़रीबन पूरी तरह उनकी समझ से परे हो (आख़िरकार पश्चिमी यूरोप में भी तो सामाजिक जनवादी मतदाताओं की संख्या सामाजिक जनवादी अख़बारों के पाठकों की संख्या से कहीं काफ़ी ज़्यादा है), लेकिन इससे यह नतीजा निकालना बेतुका होगा कि सामाजिक जनवादियों के अख़बार को, अपने को मज़दूरों

के निम्नतम सम्भव स्तर के अनुरूप ढाल लेना चाहिए। इससे सिर्फ यह नतीजा निकलता है कि ऐसे संस्तरों पर राजनीतिक प्रचार और आन्दोलनपरक प्रचार के दूसरे साधनों से प्रभाव डालना चाहिए – अधिक लोकप्रिय भाषा में लिखी गयी पुस्तिकाओं, मौखिक प्रचार तथा मुख्यतः स्थानीय घटनाओं पर तैयार किये गये परचों के द्वारा। सामाजिक जनवादियों को यहीं तक सीमित नहीं रखना चाहिए, बहुत सम्भव है कि मजदूरों के निम्नतर संस्तरों की चेतना जगाने के पहले कदम कानूनी शैक्षिक गतिविधियों के रूप में अंजाम दिये जायें। पार्टी के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है कि वह इन गतिविधियों को इस्तेमाल करे इन्हें उस दिशा में लक्षित करे जहाँ इनकी सबसे अधिक जरूरत है; कानूनी कार्यकर्ताओं को उस अनछूई जमीन को जोतने के लिए भेजे, जिस पर बाद में सामाजिक जनवादी प्रचारक संगठनकर्ता बीज बोने का काम करने वाले हों। बेशक मजदूरों के निम्नतर संस्तरों के बीच प्रचार-कार्य में प्रचारकों को अपनी निजी विशिष्टताओं, स्थान, पेशा (मजदूरों के काम की प्रकृति) आदि की विशिष्टताओं का उपयोग करने की सर्वाधिक व्यापक सम्भावनाएँ मिलनी चाहिए। बर्नस्टीन के खिलाफ अपनी पुस्तक में काउत्स्की लिखते हैं, “रणकौशल और आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य को आपस में गड़मड़ नहीं किया जाना चाहिए। आन्दोलनात्मक प्रचार का तरीका व्यक्तिगत और स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य में हर प्रचारक को वे तरीके अपनाने की छूट होनी चाहिए, जो वह अपने लिए ठीक समझे : कोई प्रचारक अपने जोशो-खरोश से सबसे अधिक प्रभावित करता है, तो कोई दूसरा अपने तीखे कटाक्षों से, जबकि तीसरा ढेरों मिसालें देकर, वगैरह-वगैरह। प्रचारक के अनुरूप होने के साथ ही, आन्दोलनात्मक प्रचार जनता के भी अनुरूप होना चाहिए। प्रचारक को ऐसे बोलना चाहिए कि सुनने वाले उसकी बातें समझें; उसे शुरुआत ऐसी किसी चीज़ से करनी चाहिए, जिससे श्रोतागण बखूबी वाकिफ़ हों। यह सब कुछ स्वतःस्पष्ट है और यह सिर्फ़ किसानों के बीच आन्दोलनात्मक प्रचार पर ही लागू नहीं होता। गाड़ी चलाने वालों से उस तरह बात नहीं होती, जिस तरह जहाज़ियों से और जहाज़ियों से वैसे बात नहीं होती जैसे छापाख़ाने के मजदूरों से। **आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य व्यक्तियों के हिसाब से होना चाहिए, लेकिन हमारा रणकौशल-हमारी राजनीतिक गतिविधियाँ एक-सी ही होनी चाहिए**” (पृ. 2-3)। सामाजिक जनवादी सिद्धान्त के एक अगुवा प्रतिनिधि के इन शब्दों में पार्टी की आम गतिविधि के एक अंग के तौर पर आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य का एक बेहतरीन आकलन निहित है। ये शब्द साफ़ कर देते हैं कि उन लोगों के सन्देह कितने निराधार हैं, जो यह सोचते हैं कि राजनीतिक संघर्ष चलाने वाली क्रान्तिकारी पार्टी का गठन आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य में बाधक होगा, उसे पृष्ठभूमि में डाल देगा और प्रचारकों की स्वतन्त्रता को सीमित कर देगा। इसके विपरीत, केवल एक संगठित पार्टी ही व्यापक आन्दोलनात्मक प्रचार का कार्य चला सकती है, सभी आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर प्रचारकों को आवश्यक मार्गदर्शन (और सामग्री) दे सकती है, आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य की हर स्थानीय सफलता का उपयोग पूरे रूस के मजदूरों की शिक्षा के लिए कर सकती है, प्रचारकों को ऐसे स्थानों पर या ऐसे लोगों के बीच भेज सकती है, जहाँ वे सबसे ज़्यादा कामयाब ढंग से काम कर सकते हों। केवल एक संगठित पार्टी में ही आन्दोलनात्मक प्रचार की योग्यता रखने वाले लोग अपने को पूरी तरह इस काम के लिए समर्पित करने की स्थिति में होंगे, जो आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य के लिए फ़ायदेमन्द तो होगा ही, सामाजिक जनवादी कार्य के दूसरे पहलुओं के लिए भी हितकारी होगा। इससे पता चलता है कि जो व्यक्ति आर्थिक संघर्ष के पीछे राजनीतिक प्रचार और राजनीतिक आन्दोलनात्मक प्रचार को भुला देता है, जो मजदूर आन्दोलन को एक राजनीतिक पार्टी के संघर्ष में संगठित करने की आवश्यकता को भुला देता है, वह और सब बातों के अलावा, सर्वहारा के निम्नतर संस्तरों को मजदूर वर्ग के लक्ष्य की ओर तेज़ी से और सफलतापूर्वक आकर्षित करने के अवसर से खुद को वंचित कर लेता है।

(1899 के अन्त में लिखित लेनिन के लेख ‘रूसी सामाजिक जनवाद में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति’ का एक अंश। संग्रहीत रचनाएँ, अंग्रेज़ी संस्करण, खण्ड 4, पृ. 280-283)।

अनुवाद : आलोक रंजन

(जून-जुलाई 1999, पी.पी. आर्य का पत्र)

बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर जारी बहस : एक पत्र और उसका उत्तर

‘बिगुल’ के अप्रैल 1999 अंक में हमने “‘बिगुल’ के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार” शीर्षक से एक सम्पादकीय छपा था।

इस सम्पादकीय पर हमें एक पत्र प्राप्त हुआ है। ‘बिगुल’ के पाठकों और वितरक-संवाददाता-सहायक साथियों के समक्ष क्रान्तिकारी राजनीतिक मजदूर अखबार के बारे में अपने बोध और धारणा को स्पष्ट करने के लिए यह पत्र और इसका उत्तर छापना हमें बेहद उपयोगी लगा। ‘बिगुल’ से जुड़े साथियों और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शिविर की कृतारों से हमारा आग्रह है कि वे इस बहस को ज़रूर पढ़ें और दो लाइनों के संघर्ष में स्वविवेक से सही-ग़लत की पहचान करें। कोई भी साथी, इस बहस में (दोहराव और पिष्टपेषण के बजाय) यदि सार्थक हस्तक्षेप करना चाहता है या मुद्दे-नुक्ते जोड़ना चाहता है, तो हम उसकी भागीदारी आमन्त्रित करते हैं। – सम्पादक

आप लोग कमज़ोर, छिछले कैरियरवादी बुद्धिजीवी हैं और ‘बिगुल’ हिरावलपन्थी अखबार है!

प्रिय साथी,

अप्रैल 1999 के अंक का सम्पादकीय “‘बिगुल’ के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार” तथा सम्पादकीय की बातों को पुष्ट करने के लिए “मजदूर अखबार – किस मजदूर के लिए?” (लेनिन के 1899 में लिखे लेख रूसी सामाजिक जनवाद में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति के एक अंश का अनुवाद) को पढ़ने के बाद बिगुल के लेखकों और पाठकों के लिए यह प्रतिक्रिया भेजी जा रही है। उम्मीद है कि आप इसे बिगुल में छापेंगे और अपने अखबार के लक्ष्य एवं स्वरूप पर बहस को आगे बढ़ायेंगे।

सम्पादकीय शुरू में ही स्पष्ट कर देता है कि बिगुल किसी ट्रेडयूनियन का मुखपत्र नहीं है और बिगुल का उद्देश्य है मजदूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी विचारधारा को स्थापित करना। सम्पादकीय शुरू में ही इस बात को भी स्पष्ट कर देता है कि विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार का काम अखबार के माध्यम से सीधे-सीधे किया जाना चाहिए और अखबार को मात्र आर्थिक संघर्षों या जनवादी अधिकार के सवाल पर टीका-टिप्पणी तक सीमित नहीं रहना चाहिए। यह सब कुछ इसलिए ताकि अखबार, मजदूर वर्ग को, एक सर्व भारतीय क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन के निर्माण एवं गठन की दिशा में, प्रेरित और उन्मुख कर सके।

इस घोषित उद्देश्य से हमारी कोई शिकायत नहीं है। हम आप से सहमत हैं कि देश के मजदूर आन्दोलन को ऐसे अखबार की ज़रूरत है। लेकिन इसके बावजूद हमारा आपसे कहना है कि बिगुल अपने ही घोषित उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा है। बल्कि बिगुल इस घोषित उद्देश्य के विपरीत काम कर रहा है। यह बात बिगुल के समग्र स्वरूप एवं वर्तमान सम्पादकीय दोनों में साफ़ तौर पर दिखायी देती है। बिगुल की यह आलोचना हम वर्तमान सम्पादकीय से ही शुरू करते हैं। बिगुल का उद्देश्य एक सर्व भारतीय क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन का निर्माण एवं गठन बताया गया है, परन्तु अभी इस बात पर आने के पहले कि कैसे बिगुल इस ज़िम्मेदारी को पूरा कर रहा है, आप इसके ठीक विपरीत काम करने लगते हैं आप बिना खुले तौर पर नाम लिये कुछ लोगों पर मंशैविक एवं अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी होने का चिप्पा लगा देते हैं। आपने छूटते ही गाली दी। यह न तो बहादुरी का काम है और न ही अक्लमन्दी का। आप की गालियों से न तो सामने वाले डरेंगे और न ही वे आपके शागिर्द हो जायेंगे। इस तरह के चिप्पे लगा देने से कहीं से भी सर्व भारतीय संगठन के निर्माण में मदद नहीं मिलती है। इसके उल्टे सामने वाले को यह समझ में आने लगता है कि आप कुछ कमज़ोर व छिछले लोग हैं जोकि दूसरों को गालियाँ देकर आत्म-महानता की कुण्ठाओं में जीना पसन्द करते हैं। ऐसी हरकतों से सामने वालों को यही समझ में आता है कि एक सर्व भारतीय क्रान्तिकारी

राजनीतिक संगठन का हिस्सा बनने के लिए जो सामान्य कम्युनिस्ट विनम्रता होनी चाहिए, आप में उसकी भी कमी है। हमारा आपसे अनुरोध है कि इन ग़लत आदतों को सुधारिये, इस छिछलेपन से उभरिये।

चिप्पे जड़ने (या तोहमतें लगा देने) और तीखी आलोचना (या राजनीतिक संघर्ष) में गुणात्मक अन्तर है। तीखी आलोचनाएँ या आर-पार के राजनीतिक संघर्ष स्वागत योग्य हैं, जबकि चिप्पेबाज़ी निन्दनीय है। इस मामले में हमें, लेनिन से सीखना चाहिए। लेनिन अपनी तीखी आलोचनाओं के लिए मशहूर रहे हैं। लेकिन लेनिन चिप्पेबाज़ नहीं थे। लेनिन, सामने वाले की ग़लतियों को (उसके लेखन एवं कर्म से) पहले चिह्नित करते थे, उनका विश्लेषण करते थे और तब ही वे सामने वाले की ग़लत प्रवृत्ति का सूत्रीकरण करते थे। रूसी सामाजिक जनवाद में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति लेनिन के लेख को अगर पूरा-पूरा पढ़ा जाये तो लेनिन की यह धैर्यपूर्ण कार्यशैली साफ़ समझ में आती है, लेनिन की कार्यशैली की यह ख़ासियत है कि वे एकता कायम करने की नीयत से धैर्यपूर्ण लम्बे संघर्षों में विश्वास रखते थे, इसके लिए वे मशक़ूत करते थे। मात्र चिप्पा लगाकर पल्ला झाड़ लेने में लेनिन यकीन नहीं रखते थे। यही वजह है कि वे सर्वहारा की क्रान्तिकारी पार्टी बनाने में सफल रहे। हमारी आपसे विनती है कि लेनिनवादी होने का डंका पीटने के बजाय, अगर आप लेनिन की इस कार्यशैली का अनुसरण करेंगे तो कहीं बेहतर होगा।

एक अन्य जगह पर, सम्पादकीय में ही, आपने कुछ बिरादर संगठनों पर अल्पज्ञान-सन्तोष और अहम्मन्यता के शिकार होने और मंशेविक विचारों से बुरी तरह ग्रसित होने के आरोप जड़े हैं। उक्त आरोप आपने किस आधार पर लगाये इसका खुलासा करने की जहमत तो आप उठाते नहीं हैं। परन्तु आप आगे यह फ़रमाते हैं कि इन संगठनों ने अपने पत्रों में लेखकों का नाम न देने की (“व्यक्तिवाद-विरोध” के नाम पर) जो मुहिम चला रखी है, वह कूपमण्डूकतापूर्ण है। ऐसे लोगों को आपने अधकचरे मौलिक सिद्धान्तकार बताया है और कहा है कि यह नायाब क़दम तो लेनिन, स्तालिन और माओ की पार्टियों को भी नहीं सूझा था।

जनाब, अपने अल्पज्ञान से पैदा होने वाली सीमाओं को स्वीकारते हुए (लेकिन अल्पज्ञान-सन्तोष और अहम्मन्यता के शिकार होने से इन्कार करते हुए), हम यह अर्ज करना चाहते हैं कि आप ग़लत तथ्य पेश कर रहे हैं और ग़लत आलोचना कर रहे हैं। रूस और चीन के क्रान्तिकारी आन्दोलन में, गुमनाम रहकर क्रान्ति के लिए कर्म करने की स्वस्थ परम्पराएँ रही हैं। गुमनाम रहकर आन्दोलन के लिए लिखते रहना भी इन परम्पराओं में शामिल था। अपने जीवनकाल में व्यक्तिगत तौर पर लेनिन, स्तालिन और माओ ने भी जनता के लिए गुमनाम लेखन या छद्म नाम से लेखन कार्य किया है। ऐसी परम्पराएँ ग़लत नहीं, वांछनीय हैं। रहा सवाल हमारे हिन्दुस्तान के वर्तमान क्रान्तिकारी आन्दोलन का तो हमें ऐसी चीज़ों की बहुत ज़्यादा ज़रूरत है क्योंकि आन्दोलन के टूटन व बिखराव के वर्तमान दौर में आज निकृष्ट कोटि का व्यक्तिवाद पनप रहा है। यह देखने में आ रहा है कि क्रान्तिकारी नेता एवं उनके परिवारजन अपने नामों से छपास का कोई भी मौक़ा हाथ से निकलने नहीं देते। इससे मिलने वाली व्यक्तिगत शोहरत के लिए वे संगठन के प्रकाशन गृहों (और संगठन से जुड़े प्रकाशन गृहों) का खुलकर इस्तेमाल करने से भी नहीं लजाते। अगर किसी आन्दोलन में ऐसी निकृष्ट कोटि का व्यक्तिवाद पनप रहा हो, तो उस आन्दोलन में थोड़ा आदर्शवादी हो जाना, थोड़ा वाम हो जाना ग़लत नहीं है। ऐसी स्थितियों में हमें यही तय करना चाहिए कि हम दसियों वर्षों तक जनता के लिए गुमनाम लेखन करते रहेंगे और हम अपने नामों का हवाला संगठनों में लाइन के गम्भीर सवालों पर होने वाली आन्तरिक बहसों तक ही सीमित रखेंगे (यहाँ नामों का उल्लेख करना मजबूरी हो जाता है)। बहरहाल इतने के बाद भी अगर आप अपनी अवस्थिति पर अड़े रहना चाहते हैं, तो शौक़ से अड़े रहिये, व्यक्तिगत नामों से लेखन करके शोहरत पाते रहिये, परन्तु जो लोग इन संस्कारों के शिकार नहीं होना चाहते, उन्हें इस दलदल में खींचने की कोशिश भी मत कीजिये। हाँ, इस सवाल पर अन्त में यह कह देना ज़रूरी समझते हैं कि कम्युनिज़्म सामूहिकता का दर्शन है, विशिष्ट व्यक्तियों की महानता का नहीं, अतः अगर साथी कम्युनिस्ट पार्टी बनाने के प्रति गम्भीर हैं तो उन्हें विशिष्ट व्यक्तियों की तुलना में समूह को ज़्यादा तरजीह देना सीखना चाहिए। लेनिन की मशहूर किताब ‘एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे’ में एक जगह (प्रगति प्रकाशन, 1985 संस्करण, पृष्ठ 177-78) में लेनिन ने काउत्स्की को उद्धृत किया है। हमारे ख़याल से हमें इसी आदर्श का पालन करना चाहिए। उस लम्बे उद्धरण का एक अंश हम आपके लिए यहाँ दोहरा रहे हैं – “सर्वहारा एक अलग-थलग व्यक्ति के रूप में कुछ भी नहीं है। उसकी शक्ति, उसकी प्रगति, उसकी आशाओं और आकांक्षाओं का एकमात्र स्रोत संगठन होता है, और केवल अपने साथियों के साथ मिलकर काम करने से ही उसे ये सब चीज़ें मिलती हैं। जब वह एक बड़े और मजबूत अवयव का भाग होता है तब वह खुद भी अपने को बड़ा और मजबूत महसूस करता है। अवयव ही उसके लिए मुख्य होता है, इसकी तुलना में अलग-थलग व्यक्ति का महत्त्व बहुत कम होता है। एक गुमनाम समूह के कण के रूप में सर्वहारा बड़े आत्मत्याग के साथ लड़ता है, उसे व्यक्तिगत लाभ या व्यक्तिगत ख्याति की कोई आशा नहीं होती, उसे जहाँ भी लगा दिया जाता है वह अपना कर्तव्य वहीं पर स्वैच्छिक अनुशासन के साथ पूरा करता है, जो उसकी समस्त भावनाओं और विचारों में कूट-कूटकर भरा होता है।”

बुद्धिजीवी की बात बिल्कुल दूसरी है। उसका निजी ज्ञान, उसकी निजी योग्यता और उसके निजी विश्वास ही बुद्धिजीवी

के अस्त्र होते हैं। वह किसी स्थान तक केवल अपने व्यक्तिगत गुणों के सहारे ही पहुँच सकता है। इसलिए इसे लगता है कि अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए पहली शर्त उसके व्यक्तित्व की स्वतन्त्रतम अभिव्यक्ति है। बहुत मुश्किल से ही वह एक सम्पूर्ण इकाई का भाग बनने के लिए तैयार होता है और वह भी आवश्यकता से विवश होकर, अपनी इच्छा से नहीं। वह केवल जनसमूह के लिए ही अनुशासन की आवश्यकता स्वीकार करता है, चुनी हुई प्रतिभाओं के लिए नहीं और ज़ाहिर है कि वह अपने को चुनी हुई प्रतिभाओं में गिनता है।

...बुद्धिजीवी का वास्तविक जीवन-दर्शन नीत्शे का दर्शन है जो असाधारण शक्ति रखने वाले मानव की पूजा करता है, जिसके लिए अपने व्यक्तित्व का स्वच्छन्द विकास ही सबकुछ होता है और जो अपने व्यक्तित्व को एक महान सामाजिक उद्देश्य के अधीन बना देना भद्दी ही नहीं बल्कि उतनी ही घृणित बात भी समझता है। और यह जीवन दर्शन बुद्धिजीवी को सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष में भाग लेने के सर्वथा अयोग्य बना देता है।

बिगुल के वर्तमान स्वरूप को सही ठहराने के लिए आपने लेनिन से गवाही दिलायी है। हम लेनिन की इज़्ज़त करते हैं और लेनिन की जिन बातों का आपने हवाला दिया है, उन्हें भी ठीक मानते हैं। लेकिन हमारा कहना यह है कि आप लेनिन की बातों का ग़लत इस्तेमाल कर रहे हैं। अपनी आलोचना के इस हिस्से की शुरुआत हम आपके द्वारा लेनिन के अनुवादित लेख के एक महत्त्वपूर्ण वाक्य से कहते हैं – “जो अख़बार सभी रूसी सामाजिक-जनवादियों (कम्युनिस्टों) का मुखपत्र बनना चाहता है। उसे इन अग्रणी मज़दूरों के स्तर का ही होना चाहिए, उसे न केवल कृत्रिम ढंग से अपना स्तर नीचा करना नहीं चाहिए, बल्कि उल्टे उसे विश्व सामाजिक जनवाद (यानी विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन) के सभी रणकौशलतात्मक, राजनीतिक और सैद्धान्तिक समस्याओं पर ध्यान देना चाहिए।” हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि लेनिन की यह बात तो अपनी जगह ठीक है ही पर क्या आप बिगुल को भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों (या उनके एक गुप) का मुखपत्र मानते हैं? यदि आप इस सवाल का जवाब हाँ में देते हैं, तो हमारा कहना है कि तब किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि वह कहे कि बिगुल का स्तर उसके पाठकों से बहुत ऊँचा है, क्योंकि बिगुल में ऐसी कोई बात ही नहीं लिखी जाती जो भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को समझ में न आये। तब हमारा यह कहना है कि यह निहायत कमज़ोर और निम्न स्तर का मुखपत्र है। यह भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को कुछ सार्थक देता ही नहीं है। देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की चेतना का विकास करने में इसकी कोई भूमिका नहीं है। इस मायने में यह कागज़ और स्याही की बरबादी है।

यदि आप ऊपर उठाये गये सवाल का जवाब “नहीं” में देते हैं और स्वीकार करते हैं कि बिगुल मज़दूर वर्ग का एक आम अख़बार (Mass Political Paper) है, तब हम आपसे पहली बात यह कहेंगे कि आप लेनिन की बातों का ग़लत इस्तेमाल कर रहे हैं। आप लेनिन की बातों का दो तरह से ग़लत इस्तेमाल कर रहे हैं। एक यह कि लेनिन की बातें सामाजिक-जनवादियों के मुखपत्र (इस्क्रा जैसे अख़बारों) के लिए हैं। मज़दूर वर्ग के एक आम अख़बार, “प्रावदा” जैसे अख़बार पर ये बातें लागू नहीं होती हैं। मज़दूर वर्ग के एक आम अख़बार (जिसे मज़दूर वर्ग को क्रान्तिकारी चेतना से लैस करना है) में वैज्ञानिक समाजवादी दृष्टिकोण से शोषण के वर्गीय स्वरूप, राजसत्ता की वर्गीय पक्षधरता, देश-समाज की घटनाओं का वर्गीय विश्लेषण होना चाहिए। यह भण्डाफोड़ लेखों (Exposure Articles) से भरा हुआ होना चाहिए। इस मामले में भी लेनिन हमें बहुत कुछ सिखाते हैं। 1901 में लेनिन द्वारा लिखे गये लेख “मारो – मगर मृत्यु तक नहीं” या “वस्तुगत आँकड़े” या “फ़ैक्टरी न्यायालय” या फिर 1895 में लिखा गया लेख “फ़ैक्टरी मज़दूरों पर जुर्माना लागू करने के क़ानून की व्याख्या” उल्लेखनीय है। लब्बे लुवाब यह कि जब बिगुल कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का मुखपत्र नहीं है और वह मज़दूर वर्ग के लिए (समाजवाद को समर्पित) एक आम अख़बार है तो उसके लेख ऐसे होने चाहिए जो मज़दूरों के एक बड़े घेरे के लिए बोधगम्य हों। हम यहाँ आपसे यह माँग नहीं कर रहे हैं कि बिगुल निम्न चेतना वाले हर मज़दूर को पूरा का पूरा समझ में आना चाहिए। हम यहाँ यह अर्ज कर रहे हैं कि बिगुल की अधिकांश सामग्री औसत चेतना (या औसत चेतना से ऊपर) वाले मज़दूरों के लिए दिलचस्प पर बोधगम्य होनी चाहिए। चूँकि बिगुल का मौजूदा स्वरूप ऐसा भी नहीं है इसलिए बिगुल के पाठकों को बिगुल की आलोचना करने का पूरा अधिकार है।

लेनिन की बातों का ग़लत इस्तेमाल आप इस तरह से भी कर रहे हैं कि आप 1899 के रूसी मज़दूर आन्दोलन की ज़रूरतों और 1999 के हिन्दुस्तानी मज़दूर आन्दोलन की ज़रूरतों में कोई अन्तर नहीं कर रहे हैं। दोनों स्थितियाँ एक-दूसरे से नितान्त अलग-अलग हैं। इसी कारण से मज़दूर आन्दोलन की व्यावहारिक ज़रूरतें भी बिल्कुल अलग-अलग हैं। 1899 में रूसी मज़दूर आन्दोलन आगे बढ़ रहा था। उन दिनों रूस में मज़दूरों के स्वतःस्फूर्त आन्दोलन और समाजवादी आन्दोलन का एक-दूसरे में संगम हो रहा था – मज़दूरों में समाजवाद की बातों को लेकर एक भारी उत्साह तथा आकर्षण था (यह बात “रूसी सामाजिक जनवाद में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति” को पूरा पढ़ने पर भी स्पष्ट हो जाती है)। उन दिनों मज़दूर आन्दोलन इतना ऊपर उठ चुका था कि 1903 की ब्रसेल्स कान्फ़्रेंस के 43 प्रतिनिधियों में से 3 प्रतिनिधि मज़दूर थे। इसी एक तथ्य से अन्दाज़ा लगता है कि पूरे रूस

के सामाजिक जनवादियों में मजदूर किस भारी गिनती में रहे होंगे। ऐसी स्थिति में समाजवाद के सीधे-सीधे प्रचार की गुंजाइश बहुत बढ़ जाती है, क्योंकि मजदूर आन्दोलन में समाजवादी बातों की ग्राह्यता (Receptivity) बहुत अधिक होती है। लेकिन 1999 में भारत के मजदूर आन्दोलन की स्थिति बिल्कुल उल्टी है, आज भारत का मजदूर आन्दोलन आगे नहीं बढ़ रहा है बल्कि पीछे हट रहा है। आज समाज में और मजदूर आन्दोलन में समाजवाद के प्रति आकर्षण नहीं पैदा हो रहा है, बल्कि उल्टे समाजवाद विरोधी प्रतिक्रियावादी विचारों का माहौल है। आज देश की सबसे बड़ी मजदूर यूनियनों के झण्डों का रंग लाल नहीं केसरिया हुआ पड़ा है। ऐसी स्थिति में हमें अपनी ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करना पड़ेगा और भारत के मजदूर आन्दोलन के वर्तमान हालात के अनुरूप अपना प्रचार एवं अन्य कार्रवाईयाँ करनी होंगी। हम जड़सूत्रवादियों की तरह 1899-1905 के दौर की व्यावहारिक बातें (उसूली बातें नहीं) दोहराते नहीं रह सकते। अगर हम सफल होना चाहते हैं तो हमें स्थान-काल के भेद का खयाल रखना होगा। स्थान-काल भेद के सम्बन्ध में लेनिन 1905 में रूसी आन्दोलन के अनुभव लिखते हैं (नये काम और नयी शक्तियाँ, जनता के बीच पार्टी का काम, इण्डिया पब्लिशर्स, 1982, पृष्ठ संख्या 23) – “आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में सामाजिक जनवादियों को बहुत सा ऐसा काम करना पड़ता था जो एक प्रकार से सांस्कृतिक कार्य होता था, अथवा उन्हें लगभग केवल आर्थिक आन्दोलन में ही जुटे रहना पड़ता था। अब एक के बाद एक ये जिम्मेदारियाँ नयी शक्तियों के हाथों में, उन व्यापक हिस्सों के हाथों में पहुँचती जा रही हैं जो अधिकाधिक मात्रा में आन्दोलन में शामिल हो रहे हैं। इसलिए, क्रान्तिकारी संगठनों ने वास्तविक राजनीतिक नेतृत्व के कार्य को पूरा करने की दिशा में, मजदूरों तथा आम जनता के विरोध आन्दोलनों से सामाजिक जनवादी नतीजे निकालने की दिशा में, अधिकाधिक ध्यान केन्द्रित करना शुरू किया है। शुरू-शुरू में मजदूरों को शाब्दिक और लाक्षणिक दोनों ही अर्थों में हमें एकदम ककहरा सिखलाना पड़ता था। अब राजनीतिक साक्षरता का स्तर विराट रूप से इतना ऊँचा हो गया है कि अपनी कोशिशों को पूरी तौर से अब हम अधिक प्रत्यक्ष उन सामाजिक-जनवादी लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में लगा सकते हैं, जिनका उद्देश्य क्रान्तिकारी धारा को एक संगठित दिशा में ले जाना है।” स्थान-काल को अनदेखा करके भी आप लेनिन की बातों का ग़लत इस्तेमाल कर रहे हैं।

लेनिन की बातों का ग़लत इस्तेमाल करते हुए आप ऐसे पाठक को तो झाँसा दे सकते हैं जो एकाग्रता से न पढ़ता हो, जो दो पैरा पहले पढ़ी हुई बातें भूल जाता हो, और जिसके दिमाग़ में उन बातों की केवल एक धुँधली सी तस्वीर ही बची रहती हो। परन्तु आप मेहनत करने वाले चौकन्ने पाठक को झाँसा नहीं दे सकते। आप भी औसत संस्तर के मजदूर की बात करते हैं, और लेनिन भी इस श्रेणी की बात करते हैं। लेनिन और आपमें फ़र्क यह है कि लेनिन स्पष्टतः इन औसत मजदूरों की चेतना को परिभाषित करते हैं। लेकिन आप 1999 के भारत के औसत मजदूरों की चेतना को परिभाषित नहीं करते। यहाँ आप सीधे-सीधे चालबाजी कर रहे हैं। आप पाठक को यह झाँसा देना चाहते हैं कि लेनिन ने औसत के लिए जो किया, ‘बिगुल’ औसत के लिए वही कर रहा है। लेनिन वस्तुनिष्ठता (objectivity) में विश्वास रखते थे। अगर आप भी वस्तुनिष्ठ होते और 1999 के औसत मजदूर को परिभाषित करने की जहमत उठाते तो पाठकों के लिए स्थान-काल का भेद एकदम साफ़ हो जाता और उन्हें साफ़ दिखायी देने लगता कि बिगुल ज़माने की ज़रूरतों के हिसाब से क़तई नहीं लिख रहा है। आपके ही द्वारा अनुवादित लेख में 1899 के औसत स्तर के मजदूर की चेतना की जो वस्तुनिष्ठ तस्वीर लेनिन पेश करते हैं उनके हिसाब से वे ऐसे लोग हैं जो समाजवादी की उत्कट इच्छा रखते हैं, मजदूर अध्ययन मण्डलों में भाग लेते हैं, समाजवादी अख़बार और किताबें पढ़ते हैं, आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य में भाग लेते हैं, और उपरोक्त संस्तर से (उन्नत चेतना वाले संस्तर से) **सिर्फ़ इसी बात में अलग होते हैं कि वे सामाजिक जनवादी मजदूर आन्दोलन के पूरी तरह स्वतन्त्र नेता नहीं बन सकते।** जिस अख़बार को **पार्टी का मुखपत्र होना है**, उसके कुछ लेखों को औसत मजदूर नहीं समझ पायेगा। जटिल सैद्धान्तिक या व्यावहारिक समस्या को, पूरी तरह समझ पाने में वह सक्षम नहीं होगा।” अब 1899 के रूस के इस औसत की तुलना आज 1999 के भारत के औसत से ज़रा करके बताइये – 1999 का औसत मजदूर अध्ययन मण्डलों में भाग लेना, समाजवादी अख़बारों और किताबें पढ़ना, प्रचार-कार्य में भाग लेना इत्यादि तो बहुत दूर की बात है, 1999 के भारत का औसत मजदूर बामुश्किल एक आम हड़ताली की चेतना रखता है। वह 1899 के निम्न स्तर के रूसी मजदूर की चेतना के आस-पास खड़ा है और किन्हीं मामलों में उनसे भी पिछड़ा हुआ है। ऐसी चेतना के मजदूरों के लिए क्या किया जाना चाहिए? इनके लिए लेनिन उसी लेख में लिखते हैं – “बहुत मुमकिन है कि एक समाजवादी अख़बार पूरी तरह या त़क़रीबन पूरी तरह उनकी समझ से परे हो ऐसे संस्तरों पर राजनीतिक प्रचार और आन्दोलनात्मक प्रचार के दूसरे साधनों से प्रभाव डालना चाहिए – अधिक लोकप्रिय भाषा में लिखी गयी पुस्तिकाओं, मौखिक प्रचार तथा मुख्यतः स्थानीय घटनाओं पर तैयार किये गये पर्चों द्वारा। सामाजिक जनवादियों को यहीं तक सीमित नहीं रहना चाहिए, बहुत सम्भव है कि मजदूरों के निम्नतर संस्तरों की चेतना जगाने के पहले क़दम क़ानूनी शैक्षिक गतिविधियों के रूप में अंजाम दिये जायें। अपने सम्पादकीय में आपने ‘चना ज़ोर गरम’ कहकर कई नेकनीयत और देशकाल के हिसाब से प्रचार करने वालों की खिल्ली उड़ई है। हमारा कहना है कि ‘चना ज़ोर गरम’ शैली से तो शायद वे देश के मजदूर आन्दोलन के स्तर को ऊपर

उठाने में कोई सार्थक भूमिका अदा कर लें, परन्तु आपकी कन्फ्यूशियसवादी शैली से तो अनर्थ ही होगा।

मजदूर आन्दोलन की ठोस परिस्थितियों का सही विश्लेषण न करने की वजह से आपका आन्दोलन की ज़रूरतों के बारे में बोध ही ग़लत है। आप मजदूर आन्दोलन की वर्तमान कमजोर स्थिति, आन्दोलन के भीतर राजनीतिक चेतना की गिरावट का ठीक-ठीक अन्दाज़ा ही नहीं लगा पा रहे हैं। ऐसे में होता यह है कि आप अपने अख़बार के माध्यम से मजदूर आन्दोलन पर ऐसी बहुत सारी सामग्री लादने की कोशिश करते रहते हैं जो आन्दोलन की आवश्यकताओं से मेल नहीं खाती हैं। नतीजा यह निकलता है कि ढेर सारे नेकनीयत लोग आप से इसकी शिकायत करते हैं, परन्तु अपने को सही ठहराने के चक्कर में आप उनके ऊपर अपने तर्कों का जाल तथा लेनिन-स्तालिन की किताबों की गदा लेकर टूट पड़ते हैं। दोस्तो, बेहतर होगा कि अगर बिगुल का प्रचार जीवन से मेल नहीं खा रहा है तो ज़िन्दगी को कुचलने की कोशिश करने के बजाय प्रचार के सम्बन्ध में अपनी सोच ठीक की जाये। दोस्तो, आज हालात यह है कि कुछ जगह पर मजदूरों की एकता इतनी कमजोर हुई पड़ी है, उनकी वर्गीय चेतना इतनी भोथरी हो चुकी है कि मालिक उन्हें मई दिवस की बेहद सामान्य सभाएँ भी नहीं करने दे रहे हैं। ये वही जगहें हैं जहाँ अतीत में शानदार मजदूर संघर्ष लड़े गये हैं। अगर हम इस यथार्थ को नहीं स्वीकारेंगे, तो हमारे प्रचार एवं हमारी अन्य जनकारवाइयाँ हिरावलवादी (Vanguardist) होंगी। बिगुल के साथ ऐसा ही हो रहा है। यह जनदिशा (Massline) का निषेध है। हिरावलवाद और जनदिशा के निषेध के सम्बन्ध में हम यहाँ आपके लिए माओ को दोहरा दे रहे हैं – “जन समुदाय के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हमें जन समुदाय की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार काम करना चाहिए। जन समुदाय के लिए किये जाने वाले तमाम कार्यों का आरम्भ उसकी आवश्यकताओं के आधार पर होना चाहिए न कि किसी व्यक्ति की सदिच्छाओं के आधार पर। ऐसा अक्सर देखने में आता है कि वस्तुगत रूप में तो जन समुदाय के लिए किसी परिवर्तन की आवश्यकता है, लेकिन मनोगत रूप से वह इस आवश्यकता के प्रति अधिक जागरूक नहीं हो पाया, इस परिवर्तन को करने के लिए अभी तैयार अथवा संकल्पबद्ध नहीं हो पाया। ऐसी स्थिति में हमें धीरज के साथ इन्तज़ार करना चाहिए। हमें यह परिवर्तन तब तक नहीं लाना चाहिए जब तक हमारे कार्य के ज़रिये जन समुदाय का अधिकांश भाग उक्त आवश्यकताओं के प्रति जागरूक न हो जाये तथा वह उसे कार्यान्वित करने के लिए तैयार और संकल्पबद्ध न हो जाये। अन्यथा हम जन समुदाय से अलग हो जायेंगे। जब तक जन समुदाय जागरूक और तैयार नहीं हो जाता तब तक कोई ऐसा काम जिसमें उसके शामिल होने की ज़रूरत है, महज़ एक ख़ानापूरी के समान होगा तथा वह असफल हो जायेगा। ...यहाँ दो उसूल हैं : पहला उसूल है जन समुदाय की वास्तविक आवश्यकताओं को देखना न कि कल्पना के आधार पर उसकी आवश्यकताओं का निर्णय कर देना। और दूसरा उसूल है जन समुदाय की आकांक्षा। जन समुदाय को अपना संकल्प खुद ही करना चाहिए, बजाय इसके कि हम उस पर अपना संकल्प लाद दें।” (माओ, “सांस्कृतिक कार्य में संयुक्त मोर्चा”, संकलित रचनाएँ (अंग्रेज़ी संस्करण), ग्रन्थ 3, पृष्ठ 236-237)।

अपने सम्पादकीय में आपने इस तथ्य को रखा है कि बिगुल की 75 प्रतिशत से ज़्यादा बिक्री मजदूरों के बीच हो रही है। इस तथ्य पर हम अभी प्रश्न चिह्न नहीं लगा रहे हैं। इसे हम जस का तस लेकर यह कह रहे हैं कि यह किसी भी मजदूर अख़बार के लिए अच्छी बात है। लेकिन तब भी इसकी बधाई हम बिगुल के सम्पादक और लेखकों को देने के बजाय, यह बधाई हम बिगुल के वितरकों को देना पसन्द करेंगे। हमारा मानना है कि यह वितरक साथियों की मेहनत-मशक्कत की बदौलत हो रहा है, बिगुल के लेखों की अन्तर्वस्तु की बदौलत नहीं।

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ,

आपका साथी
पी.पी. आर्य
(05-06-99)

(जून-जुलाई 1999, सम्पादक, बिगुल का जवाब)

1999 के भारत के 'क्रीडो' मतावलम्बी

आपका पत्र आपकी अर्थवादी, सामाजिक जनवादी, अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भटकावग्रस्त लाइन की सारी गन्दगी को उजागर कर रहा है!

प्रति,
साथी पी.पी. आर्य

प्रिय साथी,

बिगुल के अप्रैल 1999 अंक के सम्पादकीय (बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार) पर बहस को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से भेजा गया आपका पत्र मिला।

आपकी उम्मीद पूरी करते हुए हम पूरा पत्र छाप रहे हैं। हालाँकि आप शायद पत्र छपने के बारे में आशंकित थे, तभी आपने बिगुल से जुड़े तमाम साथियों के पत्रों पर इस पत्र की प्रतियाँ भेजीं। हमें अफसोस है कि नाहक ही आपने इतना धन खर्च कर डाला। ऐसा पत्र भला हम क्यों न छापते, जो आप और आप जैसों की “क्रान्तिकारी राजनीति” का चेहरा एकदम उघाड़ कर हमारे ही उद्देश्य की पूर्ति कर रहा है।

आपका पत्र न सिर्फ हमारी बात को ही साबित करता है, बल्कि यह भी स्पष्ट कर देता है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर में अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी (Anarcho-syndicalist) और विविध सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियों-रुझानों के बदबूदार दलदल की गहराई और क्षेत्रफल उससे कहीं ज़्यादा है, जितना कि हम सोचते थे।

आपने हमारे ऊपर “छूटते ही गाली देने” और “चिप्पे जड़ने” का आरोप लगाया है। आपकी शिकायत है कि हमने “बिना खुले तौर पर नाम लिए कुछ लोगों पर मेशेविक एवं अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी होने का चिप्पा लगा” दिया है। आपका पत्र ही बताता है कि नाम लेने की कोई ज़रूरत नहीं थी, चोट जिसके मर्मस्थल पर लगनी थी, वहाँ लग ही गयी है। पर साथ ही, यह भी बता देना हम ज़रूरी समझते हैं कि सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियों के असली सिरमौर जिन मठाधीशों पर हमने चोट की है, वे तो अभी भी चुप्पी साधे हुए हैं, तिलमिलाहट उन लोगों को हुई है जो मूल प्रवृत्ति के भोंड़े उपोत्पाद (by-product) मात्र हैं। आप भ्रमवश सारे आक्रमणों का निशाना स्वयं को समझ बैठे। बहरहाल, इससे यह तो स्पष्ट हुआ ही कि आप व आपके साथी किस भोंड़े हद तक सामाजिक जनवादी भटकाव के शिकार हैं। आप जैसों को तो मेशेविक प्रवृत्ति की श्रेणी में नहीं बल्कि राबोचेये द्येलो और राबोचाया मिस्ल की प्रारम्भिक रूसी अर्थवादी प्रवृत्ति की श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

पहली बात यह साफ़ कर दें कि हमने आप जैसों को मेशेविक और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी की श्रेणी में नहीं रखा है, बल्कि आप क्रान्तिकारी शिविर में मौजूद मेशेविक और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित किया है। कम्युनिस्ट पार्टी या शिविर के भीतर विविध प्रकार की सर्वहारा प्रवृत्तियाँ-रुझानें (Trends-Tendencies) या भटकाव-विच्युतियाँ (Aberrations-Deviations) प्रायः होती हैं। हाँ, प्रवृत्तियाँ-रुझानें यदि समाप्त नहीं हुईं तो एक विजातीय धारा (Stream) बन जाती है। और भटकाव-विच्युतियाँ आदि ठीक नहीं हुईं तो उनकी नियति क्रान्तिकारी शिविर से प्रस्थान (Departure) ही होती है। हमें इन बुनियादी बातों की शिक्षा देना तो अच्छा नहीं लग रहा है, पर मजबूरी है। आपको मार्क्सवादी

“पॉलिमिक्स” की भाषा-शैली से परिचित होना चाहिए तथा प्रवृत्तियों-रुझानों तथा धारा के बीच, या भटकाव-विच्युतियाँ और प्रस्थान-विपथगमन के बीच फर्क करना जानना चाहिए। शिविर में मौजूद विजातीय प्रवृत्ति या रुझान को सही-सटीक नाम देना ‘ईसप की भाषा’ का इस्तेमाल करने के बजाय बहस को सीधे मुद्दे पर लाने का वैज्ञानिक ढंग होता है। इसे गाली या तोहमत समझना मार्क्सवादी तहजीब से नावाक़िफ़ियत ही ज़ाहिर करता है।

आपका यह कहना भी तथ्य से परे है कि हमने बिना किसी तथ्य या तर्क के “**चिपे लगाने**” का काम किया है। सम्पादकीय के तीसरे पैराग्राफ़ को आप फिर ग़ौर से पढ़िये। हम एक बार फिर अपना तर्क स्पष्ट कर रहे हैं। **जो लोग किसी भी रूप में यह मानते हैं कि मज़दूर वर्ग के बीच सीधे-सीधे विचारधारात्मक राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई से मज़दूर अख़बार को बचना चाहिए और आर्थिक संघर्ष के मुद्दों एवं कार्रवाइयों तथा आम जनवादी अधिकारों एवं नागरिक अधिकारों के सवालियों के इर्द-गिर्द लेख-टिप्पणियाँ आदि छापकर आम मज़दूरों की चेतना के स्तर को उन्नत करना चाहिए; जो लोग मानते हैं कि चूँकि मज़दूर की चेतना बहुत पिछड़ी हुई है अतः हमें अख़बार के ज़रिये उनके बीच विचारधारात्मक-राजनीतिक कार्य करने के बजाय उन्हें महज़ नागरिक या जनवादी अधिकारों के बारे में व आर्थिक माँगों के बारे में जागरूक बनाने का काम करना चाहिए; जो लोग मानते हैं कि अलग-अलग कारख़ानों में महज़ आर्थिक संघर्ष से मज़दूर वर्ग की चेतना का धरातल (बिना राजनीतिक शिक्षा व प्रचार तथा बिना राजनीतिक संघर्ष की कार्रवाई संगठित किये) स्वतः ही उन्नत हो जायेगा या स्वतः ही वह राजनीति और विचारधारा तक आ जायेगा, जो लोग पार्टी-निर्माण (Party Building) के काम को मज़दूर वर्ग के बीच करने पर ज़ोर नहीं दे रहे हैं, जो लोग स्वतःस्फूर्तता या मात्र आर्थिक आन्दोलनों के पीछे घिसटना अपना “क्रान्तिकारी दायित्व” मानते हैं; तथा जो लोग यह मानते हैं कि आर्थिक आन्दोलन स्वतः राजनीतिक आन्दोलन में रूपान्तरित हो जाता है और स्वतः ही वह मज़दूरों के भीतर स्वतः राजनीतिक समझ या विचारधारात्मक समझ पैदा कर देता है – वे सब के सब एक या दूसरे रूप में अर्थवादी और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी प्रवृत्तियों-रुझानों के शिकार हैं।**

●

फ़िल्मी वकीलों वाले नाटकीय अन्दाज़ में आपने हमसे जानना चाहा कि क्या हम ‘बिगुल’ को भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों (या उनके एक गुप) का मुखपत्र मानते हैं। यदि ऐसा है, तब आपका कहना है कि यह पाठकों के स्तर से ऊँचा नहीं है बल्कि निहायत ही कमज़ोर और निम्न स्तर का मुखपत्र है यदि बिगुल मज़दूर वर्ग का ‘मास पोलिटिकल पेपर’ (mass political paper) है, तब आपके ख़याल से हम लेनिन का बेजा इस्तेमाल कर रहे हैं क्योंकि लेनिन की बातें सामाजिक जनवादियों के मुखपत्र (‘इस्क्रा’ जैसे अख़बारों के लिए) लागू होती हैं। हम विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि ‘**पार्टी ऑर्गन**’ (Party Organs) के बारे में आपकी समझ दिवालिया है, या फिर ऐतिहासिक तथ्यों की दरोगहल्फ़ी करके अपने लाइन के चरित्र पर पर्दा डालना चाहते हैं।

आपके ख़याल से जो ‘मास पोलिटिकल पेपर’ होता है, वह ‘पार्टी ऑर्गन’ होता ही नहीं है। और ‘पार्टी ऑर्गन’ वही होता है जो पार्टी कार्यकर्ताओं के लिए निकाला जाता है। शायद आपने अभी तक यह नहीं पढ़ा है कि ‘पार्टी ऑर्गन्स’ कई श्रेणी के होते हैं – प्रोपेगैण्डा ऑर्गन (Propaganda Organ), एजिटेशनल ऑर्गन (Agitational Organ) और ‘एजिट प्रॉप ऑर्गन’ (Agit Prop Organ)। ‘प्रोपेगैण्डा ऑर्गन’ के व्यापक प्रवर्ग में गम्भीर सैद्धान्तिक विचारधारात्मक राजनीतिक प्रश्नों पर, लाइन के बुनियादी पहलुओं पर केन्द्रित पत्र आते हैं जो कम्युनिस्टों के बीच बहस तथा कृतारों के बीच उच्च स्तरीय प्रचार एवं शिक्षा के काम को अंजाम देते हैं। ‘एजिटेशनल ऑर्गन’ प्रायः समाज के अलग-अलग वर्गों-तबकों के लिए अलग-अलग निकाले जाते हैं – वे वर्ग विशेष के उन्नत जागरूक संस्तरों तक अपनी पहुँच बनाते हैं, आम समस्याओं-घटनाओं-आन्दोलनों के विश्लेषण के ज़रिये उन्हें राजनीतिक शिक्षा देते हैं। उन्हें सीधी-सादी भाषा में क्रान्ति की विचारधारा से तथा क्रान्तियों और मज़दूर आन्दोलनों के इतिहास से तथा मज़दूर आन्दोलनों की समस्याओं व समाधान से परिचित कराते हैं। ऐसे पत्र मज़दूरों की आम ज़िन्दगी और संघर्षों की रपटों के द्वारा ही उन्हें शिक्षित करते हैं तथा बुर्जुआ व्यवस्था, बुर्जुआ मीडिया, बुर्जुआ जनवादी चुनावों व संसद आदि के बारे में उन्हें असलियत बताने का काम करते हैं। ‘एजिट प्रॉप ऑर्गन’ इन दो प्रवर्गों के बीच का प्रवर्ग है। जिसका दायरा व्यापक होता है – कुछ में एजिटेशन (Agitation) का पहलू प्रधान होता है तो कुछ में ‘प्रोपेगैण्डा’ (Propaganda) का।

क्या आप इतने अधिक राजनीतिक मासूम हैं कि यह बात आपके सामने स्पष्ट नहीं है कि ‘बिगुल’ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के एक धड़े का ‘ऑर्गन’ है? तब हमें मजबूरन बताना पड़ेगा कि ऐसा ही है। पर हमें यह भी बताने दीजिये कि यह मज़दूर वर्ग के लिए निकाला जाने वाला ‘एजिटेशनल ऑर्गन’ है। संसाधनों की मजबूरियों कि चलते (तथा आज की स्थितियों में मुमकिन होने के नाते) यह एक हद तक, कभी-कभार ‘एजिट-प्रॉप ऑर्गन’ के रूप में भी होता है। दूसरे, आप को यह भी

याद दिला दें कि यह क़ानूनी दायरे के भीतर निकलने वाला 'एजिटेशनल ऑर्गन' है। 'मास पोलिटिकल पेपर' शब्द का इस्तेमाल समाजिक जनवादियों की छिछोरी शैली में न करें। कम्युनिस्ट पार्टियों के 'मास पोलिटिकल पेपर' उनके 'एजिटेशनल ऑर्गन' हुआ करते हैं। हमारा सुझाव है कि रूसी क्रान्ति के इतिहास को आप फिर गौर से पढ़ें। 'प्रावदा' बोल्शेविकों का क़ानूनी दैनिक समाचार पत्र था। वह पार्टी का मज़दूरों के लिए निकाला जाने वाला 'एजिटेशनल ऑर्गन' था।

'इस्क्रा' भी बोल्शेविकों का मूलतः 'एजिटेशनल', या एक हद तक 'एजिट-प्रॉप' श्रेणी का 'ऑर्गन' ही था। 'इस्क्रा' के साथ-साथ बोल्शेविक उन्नत कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की शिक्षा और उन्नत स्तर के 'पॉलिमिक्स (Polemics)' के लिए 'ज़ार्या' का प्रकाशन कर रहे थे। जब क़ानूनी दैनिक बोल्शेविक अख़बार के रूप में 'प्रावदा' का प्रकाशन हो रहा था, उस समय भी पार्टी क़तारों व आगे बढ़े हुए मज़दूरों के लिए 'प्रोपेगैण्डा ऑर्गन' के रूप में साप्ताहिक पत्र 'ज़्वेज़्दा' का प्रकाशन किया जा रहा था।

'इस्क्रा' और 'प्रावदा' के बीच के फ़र्क के बारे में आप बुरी तरह 'कन्फ़्यूज़्ड' हैं। फ़र्क यह नहीं था कि एक 'पार्टी-ऑर्गन' था और दूसरा नहीं। दोनों ही 'पार्टी-ऑर्गन' थे। दोनों ही अपने-अपने दौर में मज़दूर वर्ग के बीच पार्टी-निर्माण (Party Building) के काम को अंजाम दे रहे थे। दोनों ने ही अपने-अपने दौर में मज़दूर वर्ग के प्रचार, शिक्षक, आन्दोलनकर्ता और संगठनकर्ता की भूमिका निभायी।

हाँ, कुछ अहम फ़र्क ज़रूर थे! एक फ़र्क यह था कि 'इस्क्रा' रूस में पार्टी के निर्माण एवं गठन (Building and Formation) के प्रारम्भिक दौर का पत्र था। पार्टी (पहली कांग्रेस हो चुकने के बावजूद) अभी वास्तव में खड़ी ही नहीं हुई थी। 'इस्क्रा' पहला अखिल रूसी गैरक़ानूनी मार्क्सवादी अख़बार था। इसके पूर्व, छोटे स्तर पर दो और गैरक़ानूनी अख़बार – रबोची (1885, दो अंक) तथा 'सेन्ट पीतर बुर्गसकी राबोची लिस्तोक' (लेनिन द्वारा गठित 'संघर्ष लीग' का पहला गैरक़ानूनी पत्र) निकल चुके थे। 'इस्क्रा' के लेखों में मुख्यतः पार्टी-निर्माण तथा रूस के सर्वहारा वर्ग के संघर्षों और ज़िन्दगी से सम्बन्धित समस्याओं की तथा अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र की अहम घटनाओं की विवेचना हुआ करती थी। 'इस्क्रा' सिर्फ़ पार्टी-क़तारों के लिए नहीं बल्कि उन्नत मज़दूरों के लिए निकलता था। और उसने उन्हें शिक्षित करके उनके बीच से बड़े पैमाने पर पार्टी-भर्ती का काम किया। मज़दूरों के बीच से भर्ती के चलते पार्टी की संरचना (Composition) में अहम बदलाव आया। तब तक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के बीच से ही ज़्यादा कम्युनिस्ट तैयार हुए थे। आपको यह भी बता दें कि शुरू में 'इस्क्रा' का प्रकाशन पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में होता ही नहीं था। दूसरी कांग्रेस ने एक विशेष प्रस्ताव पारित करके पार्टी-निर्माण के संघर्ष में 'इस्क्रा' की असाधारण भूमिका को स्वीकार किया और उसे पार्टी का केन्द्रीय मुखपत्र बना दिया। लेकिन केन्द्रीय मुखपत्र बनने के तत्काल बाद ही 'इस्क्रा' मेशेविकों के हाथ में चला गया था। पुरानी 'इस्क्रा' की सुसंगत मार्क्सवादी कार्यनीति को फिर 'वपर्योद' (1904-1905) और 'प्रोलेतारी' (1905) ने आगे बढ़ाया।

'प्रावदा' का प्रकाशन अप्रैल, 1912 में शुरू हुआ। इस समय तक पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन का काम एक अलग मंज़िल में पहुँच चुका था। प्राग कॉन्फ़्रेंस (1912) में मेशेविकों से पीछा छोड़ाकर बोल्शेविक अपनी स्वतन्त्र मार्क्सवादी पार्टी बना चुके थे। 'इस्क्रा' की तरह 'प्रावदा' रूसी सर्वहारा वर्ग व गाँव के मेहनतकशों के संघर्षों और ज़िन्दगी से तथा सर्वहारा क्रान्ति की समस्याओं से और अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं से सम्बन्धित सामग्री प्रकाशित करता था। फ़र्क यह था कि 'इस्क्रा' के विपरीत, 'प्रावदा' एक क़ानूनी दैनिक अख़बार था। इस समय तक ज़ारशाही को पीछे हटकर कुछ राजनीतिक व जनवादी अधिकार देने के लिए विवश होना पड़ा था। 'प्रावदा' के भी पहले बोल्शेविक एक क़ानूनी साप्ताहिक समाचार पत्र 'नोवाया झिज़्न' (अक्टूबर-दिसम्बर 1905) तथा दो क़ानूनी दैनिक अख़बार 'बोल्ना' (अप्रैल-मई 1906) और 'एखो' (जून-जुलाई 1906) निकाल चुके थे। ये तीनों ही अपनी प्रकृति से (क़ानूनी फ़्रेम में निकलने वाले) 'एजिटेशनल पेपर' थे। 'प्रावदा' 1912-14 की नयी क्रान्तिकारी उठान के दौर का 'एजिटेशनल ऑर्गन' था। क़ानूनी होने के नाते इसकी ('इस्क्रा' की अपेक्षा) पहुँच व्यापक मज़दूर वर्ग तक थी और दैनिक होने के चलते यह ज़्यादा 'एजिटेशनल मैटीरियल' छाप सकता था पर क़ानूनी दैनिक होने के चलते 'इस्क्रा' की तुलना में इसकी कुछ सीमाएँ भी थीं। जिसे आप 'मास पोलिटिकल पेपर' कह रहे हैं और यह मानक पेश कर रहे हैं कि लेनिन की बातें 'इस्क्रा' पर तो लागू होती हैं पर 'प्रावदा' पर नहीं, उस पत्र ने (स्तालिन कालीन 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास' के अनुसार) चौथी दूमा के चुनाव के पूर्व आगे बढ़े हुए मज़दूरों को संगठित किया, सर्वहारा वर्ग की आम कार्रवाई का संगठन किया और मज़दूर वर्ग की आम क्रान्तिकारी पार्टी के रूप में बोल्शेविक पार्टी को ढालने के लिए 'प्रावदा' की कार्यनीति ने राजनीतिक रूप से सक्रिय मज़दूरों के अस्सी फीसदी का समर्थन हासिल किया। निश्चित ही 'प्रावदा' के लेख मज़दूरों के एक बड़े घेरे के लिए बोधगम्य थे, पर ऐसा इसलिए था कि इस्क्रा काल की अपेक्षा क्रान्तिकारी उठान के इस नये दौर में (यानी प्रावदा काल में) राजनीतिक रूप से जाग्रत, वर्ग-सचेत मज़दूरों का दायरा ही बहुत बड़ा हो चुका था। जिसे आप 'मास पोलिटिकल पेपर' कहकर 'इस्क्रा' से अलग प्रकृति का बताने की कोशिश

कर रहे हैं वह पत्र “पार्टी सिद्धान्त के लिए, आम मजदूर वर्ग की **क्रान्तिकारी पार्टी बनाने के लिए संघर्ष में...**बीचोंबीच में था। प्रावदा ने **बोलशेविक पार्टी के गैरकानूनी केन्द्रों के चारों तरफ** मौजूदा कानूनी संगठनों को इकट्ठा किया और एक निश्चित उद्देश्य की तरफ मजदूर आन्दोलन का संचालन किया – क्रान्ति की तैयारी के लिए।” [सो.सं. की क.पा. (बोलशेविक) का इतिहास, पृ. 181] ‘इस्क्रा’ के काल में जिस तरह **लेनिन** की लाइन के साथ खड़े पार्टी सदस्यों को **इस्क्रापन्थी** कहा जाता था, उसी तरह ‘**प्रावदा**’ के काल में बोलशेविकों को प्रावदापन्थी कहा जाता था। 1912-15 के बीच के **लेनिन** के लेखों में व पार्टी-दस्तावेजों-लेखों में बहुधा बोलशेविकों द्वारा निकाले जाने वाले सभी अखबारों को **प्रावदावादी अखबार** कहा गया है। जबकि विरोधियों के प्रकाशनों को **विसर्जनवादी अखबार**!

आपके अनुसार ‘मास पोलिटिकल पेपर’ ‘**प्रावदा**’ आम मजदूरों के व्यापक दायरे के लिए बोधगम्य था, अतः लेनिन से हमने जो “**गवाही दिलायी है**” वह ‘**इस्क्रा**’ के लिए तो लागू होती है, लेकिन ‘**प्रावदा**’ के लिए नहीं। फिर यहाँ अपनी राजनीति का असली चरित्र छुपाने के लिए अपने तथ्य गढ़ने की और ऐतिहासिक तथ्यों को चालाकी की ओट में छिपाने की कोशिश कर रहे हैं। तथ्य यह है कि ‘**प्रावदा**’ का पाठक वर्ग वर्ग-सचेत, अग्रणी मजदूर ही था। हाँ, ऐसे मजदूरों की संख्या 1912-14 में 1898-99 की अपेक्षा अधिक जरूर थी। स्वयं लेनिन के शब्दों में “**सड़क चलते आम मजदूर के लिए, सामान्य मजदूर कृतारों के लिए, उन लाखों में से किसी एक के लिए जो अभी आन्दोलन के दायरे में नहीं खिंच पाये हैं, यह बहुत महंगा, बहुत कठिन और बहुत बड़ा है।**” (लेनिन : ‘अवर टास्कस’, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 36, पृ. 283)। इसी लेख में **लेनिन** ने यह राय दी है कि **पुत प्रावदी** का (‘**प्रावदा**’ का तत्कालीन नाम। बार-बार प्रतिबन्ध के चलते ‘**प्रावदा**’ नये-नये नामों से निकलता रहता था, जैसे **राबोचाया प्रावदा, सेवरनाया प्रावदा, प्रावदा प्रूदा, जा प्रावदू, पोलीतास्काया प्रावदा, पुत प्रावदी, वूदोवाया प्रावदा** आदि) अपने वर्तमान रूप में निकलते रहना अपरिहार्यतः आवश्यक है, पर इसे साथ ही आम सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी तक पहुँच के लिए एक कोपेक कीमत वाला, सस्ता, छोटा और व्यापक सर्कुलेशन वाला ‘**वेचेर्नाया प्रावदा**’ (यानी ‘**सान्ध्य प्रावदा**’) प्रकाशित किया जाये। मजदूरों के इसी आम, व्यापक संस्तर के लिए लेनिन ने 1899 के अपने लेख में (जो **बिगुल** में छपा है) और उस दौर के अन्य कई लेखों में छोटे-छोटे पर्व आदि निकालने तथा मुँहामुही व दरवाजे-दरवाजे जुबानी प्रचार आदि की बात कही थी। 1912-14 के दूसरे क्रान्तिकारी उठान के काल में इसी व्यापक आबादी तक पहुँच के लिए एक नियमित, छोटा सान्ध्य अखबार निकालने की बात उन्होंने कही है। ये सारे तथ्य हम ‘**प्रावदा**’ के चरित्र के बारे में आपकी भ्रान्त धारणाओं के खण्डन के लिए दे रहे हैं। और अधिक स्पष्ट होने के लिए आप पार्टी-अखबारों और उस दौर के कामों से सम्बन्धित लेनिन के अन्य लेखों-पत्रों (1912-14) को भी ‘**कलेक्टेड वर्क्स**’ में देख सकते हैं।

●

आपने अपने पत्र के तीसरे पैराग्राफ में ‘**बिगुल**’ के घोषित उद्देश्य से सहमति ज़ाहिर की है और यह भी स्वीकार किया है कि देश के मजदूर आन्दोलन को ऐसे अखबार की जरूरत है। (वैसे तो, फिर यह प्रश्न भी उठता है कि आप स्वयं ऐसे अखबार का अपना मॉडल क्यों नहीं पेश करते? यह आपके प्राथमिकता-क्रम में नीचे क्यों है और कितना नीचे है? पर इस प्रश्न को फ़िलहाल छोड़कर हम दूसरा प्रश्न उठा रहे हैं) आप के खयाल से ‘**बिगुल**’ अपने घोषित उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा है। कारण बताते हुए आपने आलोचना का पहला मुद्दा यह बनाया है कि हम “**छूटते ही गाली देने**” और “**चिप्ये जड़ने**” का काम करते हैं। यह सर्वभारतीय क्रान्तिकारी पार्टी-निर्माण व गठन के हमारे उद्देश्य के विपरीत है और हम लोगों “**कमज़ोर, छिछला व आत्म-महानता की कुण्ठाओं में**” जीने वाला साबित करता है। हम आपको बता चुके हैं कि हमने अपनी समझ से कैम्प में पैदा हुई कुछ खास विजातीय प्रवृत्तियों-रुझानों की अभिलाक्षणिकताओं को गिनाते हुए उन्हें मार्क्सवादी पारिभाषित शब्दावली के अनुसार सुनिश्चित नाम दिया है और सम्पादकीय में आगे भी इसकी सांगोपांग विवेचना की है। यह आपको गाली लगती है तो यह आपकी राजनीतिक समझ का सवाल है। विरोधी प्रवृत्तियों को रेखांकित करके उन पर प्रहार करना सही राजनीतिक एकता की पहली शर्त है कि बिना ऐसा किये एकता की चीख-पुकार मचाने वालों (या सोहर गाने वाले अथवा छाती पीटने वाले) ‘**फ़ेलो ट्रेवलर्स**’ (Fellow Travellers) के बारे में लेनिन ने क्या लिखा है, यह आप जानते ही होंगे।

‘**बिगुल**’ द्वारा स्वघोषित उद्देश्य को पूरा कर पाने में विफलता का दूसरा कारण आपने यह बताया है कि यह एक ‘**ऑर्गनाइजेशनल ऑर्गन**’ (Organisational Organ) के तौर पर निहायत कमज़ोर और निम्न स्तर का है और एक ‘**मास पोलिटिकल पेपर**’ के रूप में यह औसत चेतना वाले मजदूरों के लिए दिलचस्प और बोधगम्य नहीं है, जोकि इसे होना चाहिए। आपके इस आपत्ति-आलोचना पर विचार से पूर्व, ‘**पार्टी ऑर्गन्स**’ की श्रेणियों और ‘**मास पोलिटिकल पेपर**’ की कथित धारणा के बारे में साफ़ हो लेना जरूरी था तथा ‘**इस्क्रा**’ और ‘**प्रावदा**’ के स्वरूप के बारे में ऐतिहासिक तथ्यों के बाबत आपकी नासमझी या गोलमाल को साफ़ करना भी जरूरी था। यह हम ऊपर कर चुके हैं। अब आगे चलें।

आपके खयाल से 'पार्टी ऑर्गन' के रूप में 'बिगुल' निम्नस्तरीय है और 'मास पोलिटिकल पेपर' के रूप में उच्चस्तरीय। मुम्बई नगरी निवासी एक बुद्धिजीवी मार्क्सवादी ने कुछ वर्षों पूर्व शिकायत की थी कि **“‘बिगुल’ कुछ ज़्यादा लाल है”** हमने उनसे पूछा था कि **‘लाली कितनी कम कर दी जाये तो काम चल जाएगा?’** आपको (मास पोलिटिकल पेपर के आपके स्वनिर्धारित मानकों की दृष्टि से) **‘बिगुल’** की सामग्री कुछ ज़्यादा **“गाढ़ी”** लग रही है। तब सवाल उठता है कि इसे कितना हल्का या पतला बना दिया जाये तो काम चल जाएगा? आप की भोंड़ी तर्क-पद्धति को देखते हुए यही पूछना शायद ज़्यादा उचित होगा, लेकिन नहीं, हम एक बार फिर, आपके सम्भ्रम-दिग्भ्रम-मतिभ्रम को 'जेनुइन' मानते हुए मजदूर वर्ग के लिए 'लीगल एजिटेशनल ऑर्गन' (Legal Agitational Organ) के रूप में निकाले जाने वाले पत्र और पार्टी-निर्माण व पार्टी-गठन के आज जैसे प्रारम्भिक दौर में उसकी ज़रूरत के बारे में अपनी समझ और बोध (Perception) को स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे।

थोड़ी देर के लिए आपकी ये बातें मान भी ली जायें कि मजदूरों की एकता आज बेहद कमजोर हो गयी है, उनकी चेतना बेहद भोथरी हो गयी है, भारतीय मजदूर आन्दोलन आज आगे बढ़ने के बजाय पीछे हट रहा है, उसमें समाजवाद के प्रति आकर्षण के बजाय प्रतिक्रियावादी विचारों का माहौल है, आदि-आदि...तो भी इसका मतलब यह कदापि नहीं हो सकता कि भारत के मजदूर वर्ग के भीतर से अग्रिम, वर्ग-सचेत संस्तरों का ही विलोपन हो चुका है। न ही इससे यह नतीजा निकालना उचित होगा कि इस स्थिति में मजदूर वर्ग के किसी राजनीतिक अखबार का मुख्य 'टारगेट रीडर ग्रुप' (Target Reader Group) उन्नत, वर्ग-सचेत मजदूर न होकर औसत या निम्न चेतना वाले मजदूरों की भारी आबादी होनी चाहिए। आप कहते हैं (पृ. 3, तीसरा पैराग्राफ़) कि जब मजदूर आन्दोलन आगे बढ़ रहा हो तभी समाजवाद के सीधे-सीधे प्रचार की गुंजाइश अधिक होती है और समाजवादी बातों की ग्राह्यता अधिक होती है। आपके अनुसार, चूँकि भारत का मजदूर आन्दोलन आज पीछे जा रहा है, चूँकि इसमें समाजवाद के बजाय प्रतिक्रियावादी विचारों का माहौल है, चूँकि ट्रेडयूनियन आन्दोलन के नेतृत्व में भी साम्प्रदायिक फ़ासिस्ट तत्व प्रभावी हैं, अतः हमें समाजवाद का सीधे-सीधे प्रचार नहीं करना चाहिए। लेनिन की गवाही से आप यह बताने की कोशिश करते कि हमें अपने को सांस्कृतिक-शैक्षिक कार्यों या आर्थिक आन्दोलन तक सीमित रखना चाहिए। यहाँ आपने अपनी लाइन पर पड़ा झीना परदा भी उतार डाला है और अपने आपको, जितना हम समझते थे, उससे भी अधिक संगीन और भोंड़े अर्थवादी भटकाव का शिकार सिद्ध किया है।

1899 में ही रूस के अर्थवादी अवसरवादियों ने अपना कुख्यात 'क्रीडो' दस्तावेज़ प्रकाशित किया था जिसकी मूल प्रस्थापनाएँ ये थीं कि रूस का सर्वहारा वर्ग अभी इतना वयस्क नहीं हुआ है कि समाजवाद के विचारों को स्वीकार कर सके, या कि उसकी स्वतन्त्र राजनीतिक पार्टी का गठन किया जा सके। अतः समाजवाद के प्रचार या पार्टी गठित करने के उद्यमों का परित्याग करके मार्क्सवादियों को उन्हें केवल काम की बेहतर परिस्थितियों और उच्चतर मजदूरी जैसे आर्थिक और रोज़मर्रा के संघर्षों के लिए प्रेरित करना चाहिए। (देखिये, लेनिन की संकलित रचनाएँ, तीन खण्डों में, खण्ड एक, भाग 2 का फुटनोट सं. 7, पृ. 500) क्या आपके विचार हूबहू कुख्यात 'क्रीडो' मतावलम्बियों जैसे ही नहीं हैं? आज मजदूर आन्दोलन के पीछे हटने व उसमें प्रतिक्रियावादी विचारों के माहौल तथा समाजवादी विचारों के प्रति ग्राह्यता नहीं है, अतः हमें समाजवाद के सीधे प्रचार का काम नहीं करना चाहिए, यह स्थितियों के प्रतिकूल होगा, 'हिरावपन्थ' होगा – यही तो आपके विचार हैं। यह क्रीडोपन्थियों का गया-गुज़रा कायराना राजनीतिक पुछल्लावाद नहीं तो भला और क्या है? लेनिन ने अर्थवादी अवसरवादियों के इन विचारों का पुरजोर खण्डन किया था और बताया था कि **“सामाजिक जनवाद मजदूर आन्दोलन और समाजवाद का सहमेल है। उसका काम मजदूर आन्दोलन की हर अलग-अलग अवस्था में निष्क्रिय रूप से इसकी सेवा करना नहीं, बल्कि पूरे आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करना, इस आन्दोलन को उसका अन्तिम लक्ष्य तथा उसके राजनीतिक कार्यभार बताना तथा इसकी राजनीतिक और विचारधारात्मक स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। सामाजिक जनवाद से कटकर मजदूर आन्दोलन नगण्य और अनिवार्य रूप से पूँजीवादी बन जाता है। लेकिन आर्थिक संघर्ष करने से मजदूर वर्ग अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता खो देता है।”** लेनिन आगे स्पष्ट शब्दों में बताते हैं कि **“हमारा मुख्य और मूल काम मजदूर वर्ग के राजनीतिक विकास और राजनीतिक संगठन के कार्य में सहायता पहुँचाना है। इस काम को जो लोग पीछे ढकेल देते हैं, जो तमाम विशेष कामों और संघर्ष के विशिष्ट तरीकों को इस मुख्य काम के मातहत करने से इन्कार करते हैं, वे ग़लत रास्ते पर चल रहे हैं और आन्दोलन को भारी नुक़सान पहुँचा रहे हैं”** (लेनिन, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 4, 'द अर्जेण्ट टास्क्स ऑफ़ अवर मूवमेण्ट', नवम्बर 1900, पृ. 368 व 369)।

अपने इसी लेख में लेनिन ने स्पष्ट किया है कि शुरुआती दौर में रूसी मार्क्सवादियों को **नरोदनाया वोल्या** के अनुयाइयों से अपने अस्तित्व के लिए जूझना पड़ा था। जो **“राजनीति”** को मजदूर आन्दोलन से अलग-अलग एक स्वतन्त्र गतिविधि मानते थे। उनका विरोध करते हुए ये रूसी मार्क्सवादी एकदम दूसरे छोर तक चले गये थे और राजनीतिक काम को एकदम पृष्ठभूमि में धकेल दिया था। दूसरे, एकदम शुरु में रूस के मार्क्सवादी 'प्रोपेगैण्डा सर्किल्स' तक सीमित थे और जब वे 'एजिटेशन' में

उतरे तो दूसरे छोर तक चले गये। तीसरे, अलग-थलग, छोटे, स्थानीय मज़दूर मण्डलों में काम करते हुए एक क्रान्तिकारी पार्टी संगठित करने की आवश्यकता पर उनका समुचित ध्यान नहीं रहा और अलग-थलग काम की स्वाभाविक परिणति सिर्फ आर्थिक संघर्षों पर बल देने के रूप में सामने आयी (वही, पृ 367)। इसी स्थिति को लेनिन और इस्क्रावादियों ने समाहार करके ठीक किया, जबकि पुराने अर्थवादी और नये अर्थवादी (मंशेविक) इन्हीं हालात के पीछे-पीछे चलते रहे। आपके विचारों से ज़ाहिर है कि प्रारम्भिक अर्थवादी भटकाव के जिन तीन विवशताजन्य कारणों की लेनिन पड़ताल करते हैं, उसी भटकाव को आप आम दिशा के तौर पर स्वीकार करते हैं।

●

आज के हालात की जितनी भी प्रतिकूलताओं की आपने चर्चा की है, उन स्थितियों में तो यह और भी ज़रूरी हो जाता है कि हम एक राजनीतिक मज़दूर अख़बार के ज़रिये मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रचार की कार्रवाई चलायें, मज़दूर वर्ग को उसके ऐतिहासिक मिशन की याद दिलायें, मज़दूर क्रान्ति की विचारधारा, कार्यक्रम व मार्ग से उसे परिचित करायें, एक एकीकृत सर्वहारा पार्टी के निर्माण व गठन की दिशा में उसे क्रियाशील करें तथा मज़दूर वर्ग के बीच किये जाने वाले समस्त आर्थिक व अन्य सांस्कृतिक-शैक्षिक कार्यों को इस राजनीतिक कार्य के मातहत कर दें। समाजवाद के प्रचार को मुख्य काम बनाने-न-बनाने का फ़ैसला इस बात से क़तई नहीं हो सकता कि मज़दूर आन्दोलन में इन विचारों की कितनी ग्राह्यता है, या राजनीतिक-विचारधारात्मक प्रचार के लिए परिस्थितियाँ कितनी अनुकूल हैं। यदि हम आज भी अभूतपूर्व प्रतिकूल स्थितियों में भी सर्वहारा पार्टी-निर्माण व पार्टी-गठन के कार्य को प्रमुख कार्य मानते हैं, यदि हम मज़दूर वर्ग को नक़ली वामपन्थी, ट्रेडयूनियनवादी या फ़ासिस्ट व अन्य बुर्जुआ ताक़तों की जकड़बन्दी में मुक्त करना चाहते हैं, यदि आज की स्थिति में बदलाव लाने में हम सचेतन प्रयासों की भूमिका को स्वीकार करते हैं, तो हमें मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में विचारधारा को ले जाने के काम को आज सर्वोपरि महत्त्व देना होगा, मज़दूर वर्ग को अर्थवादी जकड़बन्दी और थकी-हारी मानसिकता से मुक्त करने के लिए उसे उसके ऐतिहासिक मिशन की याद दिलानी होगी और क्रान्तिकारी पार्टी की अपरिहार्यता से परिचित कराना होगा। इस प्रक्रिया में ज़ाहिरा तौर पर मज़दूर वर्ग के राजनीतिक अख़बार की ही सर्वोपरि भूमिका हो सकती है, जो मुख्यतः व सर्वोपरि तौर पर मज़दूरों के उन्नत, वर्ग-सचेत संस्तरों के लिए होगी। जो सीधी राजनीतिक-विचारधारात्मक शिक्षा और इतिहास-विज्ञान-साहित्य के स्तम्भों व राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं तथा मज़दूर आन्दोलन के रपटों-विश्लेषणों आदि-आदि के ज़रिये राजनीति और विचारधारा को सबसे पहले पकड़ेंगे, स्वयं को ऊपर उठाकर पार्टी क़तारों तक लायेंगे, स्वयं पार्टी संगठनकर्ता बनेंगे और फिर औसत संस्तर के मज़दूरों के बीच से पार्टी के कार्यकर्ता व सक्रिय हमदर्द तैयार करने में सहायक बनेंगे तथा निम्न चेतना की व्यापक मज़दूर आबादी में भी पार्टी व क्रान्ति का समर्थन आधार तैयार करेंगे।

पर आप जैसे लोग यह काम क़तई नहीं कर सकते। समाजवाद के प्रचार के लिए आप अनुकूल स्थिति का इन्तज़ार करेंगे। जब मज़दूर आन्दोलन पीछे हटने के बजाय (आर्थिक संघर्ष करते-करते!!) आगे बढ़ने लगेगा, जब भारतीय मज़दूर की चेतना “आम हड़ताली” की चेतना से आगे बढ़ जायेगी, तब आप समाजवाद का प्रचार करेंगे। आप ऐसा क्यों नहीं करते कि उसे राज्यसत्ता भी क़ब्ज़ा कर लेने दीजिये, तब आप आगे आकर उसे समाजवादी निर्माण की तरकीबें और हिकमत सिखाइयेगा। ज़ाहिर है कि आप गम्भीर पराजयवादी मानसिकता के शिकार हैं, प्रतिकूल स्थितियों में आँगन की मुर्गी की तरह आपका कलेजा काँप रहा है। आप मज़दूर वर्ग को कोस रहे हैं और फ़िलहाल महज़ आर्थिक संघर्षों और सांस्कृतिक शैक्षिक कार्यों तक सीमित रहते हुए उन अनुकूल स्थितियों का इन्तज़ार करना चाहते हैं जब आप मज़दूर वर्ग के बीच विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार का काम, पार्टी-निर्माण का काम हाथ में ले सकें। इसके विपरीत हमारा यह विचार है कि आज की प्रतिकूल स्थितियों को बदलने के सचेतन प्रयासों में सर्वोपरि स्थान इसी काम को दिया जाना चाहिए। आप, वस्तुगत स्थितियों की पूँछ बनना चाहते हैं (वैसी पूँछ जो मक्खी भी न उड़ा सके) और गाड़ी के पीछे घोड़ा जोतना चाहते हैं। और ऐसा करने वाले आप अकेले नहीं हैं। हम फिर इस बात को दोहराना चाहते हैं कि पूरे क्रान्तिकारी शिविर के कुछ धड़े “मज़दूर वर्ग के बीच इसी तरह से काम करने के बारे में सोच रहे हैं और अर्थवाद के समान्तर जुझारू अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद के सामने जुझारू ट्रेडयूनियनवाद का मॉडल खड़ा करने की कोशिश कर रहे हैं।” ऐसा सोचने वालों की कमी नहीं है कि महज़ आर्थिक कार्य ही जनकार्य है और ऐसा करते-करते मज़दूर वर्ग में स्वतः राजनीतिक संघर्ष की चेतना भी आती जायेगी और पार्टी बनने की क्रिया भी स्वतः गति पकड़ लेगी। इसी सोच का दूसरा पहलू भी उन लोगों के रूप में मौजूद है जो महज़ किताबें व दस्तावेज़ छापकर,

सेमिनार करके, व्याख्यान देकर या गुप्तों के नेतृत्व से 'पॉलिमिक्स' चलाकर (जो प्रायः एकतरफ़ा होकर रह जाती है) पार्टी बना लेना चाहते हैं। वे पार्टी-गठन के बाबत तो सोचते हैं, पर पार्टी-निर्माण के पहलु को या तो अनछुआ छोड़ देते हैं या उसे महज़ युवा शिक्षित मध्यवर्ग से पार्टी-भर्ती के कार्य तक सीमित कर देते हैं। मज़दूर वर्ग के बीच पार्टी-निर्माण के कार्यभार से वे या तो अपरिचित हैं या उनमें यह साहस ही नहीं रह गया है। एक ज़्यादा गँवारू-भोंड़े क्रान्तिकारियों की धारा आप जैसे की पैदा हुई है जो प्रतिकूल स्थितियों और मज़दूरों की पिछड़ी चेतना को कोसते हुए चीनी लोककथा के चालाक बूढ़े की तरह खुद को सिर्फ़ आर्थिक कार्यों और मज़दूरों व मध्यवर्गीय नागरिकों के लिए इकट्ठे ही, नागरिक अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा करने वाला अख़बार निकालने जैसी गतिविधियों तक सीमित रखना चाहते हैं और मज़दूरों की राजनीतिक-विचारधारात्मक शिक्षा के काम को तथा एक ऐसा मज़दूर अख़बार निकालने के काम को, जो मज़दूर वर्ग के बीच प्रचारक-शिक्षक, आन्दोलनकर्ता व संगठनकर्ता के रूप में काम करे, हिरावलपन्थ समझते हैं और जनकार्य के नाम पर आप जैसे लोग कर भी क्या रहे हैं। इस कारख़ाने से उस कारख़ाने, इस शहर से उस शहर संगठित-असंगठित मज़दूर आबादी के उठ खड़े होने वाले आन्दोलनों के पीछे बन्दरकुद्दी मारते रहने को ही आप आज के हालात का सही 'मासवर्क' मानते हैं। आन्दोलनों के आगे नहीं पीछे चलना, हालात के आगे नहीं पीछे चलना यह राजनीतिक पुछल्लावाद तो सामाजिक जनवादियों की पुरानी फ़ितरत रही है। कोई नयी बात नहीं है।

'हिरावलपन्थ' – कहीं से यूँ ही सुने हुए इस जुमले की न जुगाली कीजिये न बच्चे की तरह झुनझुना बजाइये। हिरावलपन्थी वह नहीं होता जो मज़दूर वर्ग में राजनीति और विचारधारा ले जाकर उनके बीच से हिरावल पाँतें तैयार करता है। हिरावलपन्थी वह होता है जो आर्थिक संघर्ष, रोज़मर्रा के संघर्ष, हर तरह के 'मासवर्क' से कोताही करता है, जनसंगठन नहीं खड़े करता है और केवल विचारधारा और राजनीति का प्रचार करता है। राजनीतिक शब्दावली का सही इस्तेमाल करना चाहिए, अन्यथा बन्दर के हाथ में उस्तरा वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है।

•

भारतीय मज़दूर आन्दोलन की वर्तमान स्थिति यदि पीछे हटने की है, तो इस स्थिति के विरुद्ध संघर्ष के लिए यह और अधिक ज़रूरी हो जाता है कि हम मज़दूर वर्ग के उन उन्नत, वर्ग-सचेत संस्तरों तक मज़दूर अख़बार की पहुँच बनायें, जो सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान को सबसे पहले ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। आपके ख़याल से उन्हें छोड़कर आज की स्थिति में हमें मज़दूरों के निम्नतर संस्तरों की चेतना जगाने की कार्रवाइयाँ करनी चाहिए या फिर औसत मज़दूरों के संस्तर तथा अपनी पहुँच बनानी चाहिए और वह भी ऐसे प्रचार व ऐसी कार्रवाइयों द्वारा, जो उन्हें स्वीकार्य हों। हम लेनिन की शिक्षा को इस रूप में समझते हैं कि वैसे तो हर दौर में ही, यदि दौर पार्टी के पुनर्गठन-पुनर्निर्माण का हो तो और भी शिष्ट के साथ, सर्वोच्च प्राथमिकता मज़दूर वर्ग के उन्नत वर्ग-सचेत संस्तरों की विचारधारात्मक-राजनीतिक शिक्षा व उनके बीच संगठन के काम को दी जानी चाहिए। औसत चेतना व निम्न चेतना के मज़दूरों के बीच पार्टी कार्य को हमेशा इसके मातहत रखना होगा। बेशक यह सही है कि "मज़दूरों के निम्नतर संस्तरों की चेतना जगाने के लिए पहले क़दम क़ानूनी-शैक्षिक गतिविधियों के रूप में अंजाम दिये जायें", पर यह काम हर हमेशा उन्नत चेतना के मज़दूरों के बीच किये जाने वाले काम के मातहत और प्राथमिकता क्रम में उसके नीचे ही होगा। आपकी सोच यह है कि आज चूँकि पूरे भारतीय मज़दूर वर्ग की चेतना का स्तर ही नीचे है, अतः हमारा मुख्य काम ही क़ानूनी-शैक्षिक, आर्थिक-सांस्कृतिक काम होगा। इसे आप देश-काल के हिसाब से प्रचार-कार्य करना कहते हैं और हम जनता की पिछड़ी चेतना का पिछलगू बनना कहते हैं, सस्ता लोकरंजकतावाद मानते हैं, "चना ज़ोर गरम" शैली का प्रचार-कार्य मानते हैं।

किसी देश-काल विशेष के मज़दूर वर्ग की चेतना का धरातल और मज़दूर आन्दोलन का स्तर किसी अन्य देशकाल के मज़दूर वर्ग की चेतना के धरातर से और मज़दूर आन्दोलन के स्तर से नीचे हो सकता है, पर इतना स्पष्ट है कि सभी जगह कुछ उन्नत वर्ग-सचेत मज़दूर होंगे, कुछ दरमियाने संस्तर की चेतना वाले होंगे और कुछ निम्न चेतना के होंगे। 'बिगुल' के अप्रैल अंक में प्रकाशित लेनिन के लेख के हवाले से और अपने सम्पादकीय के माध्यम से हम कहना यह चाहते हैं कि मज़दूर वर्ग के बीच प्रचारक-शिक्षक-संगठनकर्ता-आन्दोलनकर्ता के रूप में काम करने वाला, मज़दूर वर्ग के बीच पार्टी-निर्माण के कार्य को लक्ष्य मानने वाला अख़बार – अनुकूल-प्रतिकूल, सभी वस्तुगत परिस्थितियों में – सर्वोपरि तौर पर उन्नत चेतना वाले उन मज़दूरों को सम्बोधित होगा जो सर्वहारा क्रान्ति के विचार को सबसे पहले आत्मसात करते हैं और जिनके बीच से मज़दूर आन्दोलन के हिरावल पैदा होते हैं। दूसरे क्रम में यह औसत चेतना वाले मज़दूरों को एक हद तक सम्बोधित करेगा। निम्न चेतना का मज़दूर इसे बहुत कम समझेगा इसके लिए प्रचार के दूसरे माध्यम होंगे। इस प्रस्थापना के जवाब

में आपने हमारे ऊपर लेनिन को तोड़ने-मरोड़ने का आरोप लगाते हुए लेनिन के लेख का वह हिस्सा उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने रूस के औसत स्तर के मजदूर की चेतना की तस्वीर पेश की है। आपके खयाल से वह भारत और औसत मजदूर की चेतना से काफी ऊपर है और भारत का औसत मजदूर “आम हड़ताली” की चेतना रखता है। यह तुलना सिर्फ यह बताती है कि आप कितने कठमुल्ला किस्म के अनुकरणवादी हैं। लेनिन की बात से आप तभी सीखेंगे जबकि आप पायें कि तत्कालीन रूस के मजदूरों के तीनों संस्तरों की चेतना और आज के भारत के मजदूरों के तीनों संस्तरों की चेतना में 1:1 की समानुपातिक समानता हो। क्या मूर्खता है! यह भला सम्भव भी कैसे हो सकता है? मूल बात यह है कि मजदूर अखबार अपने देशकाल के सबसे उन्नत चेतना के मजदूरों पर सबसे पहले ध्यान देगा, और दूसरे क्रम पर यह औसत चेतना वाले मजदूरों को लेगा तथा अतिसीमित रूप में ही यह निम्न चेतना के तीसरे संस्तर तक पहुँच पायेगा।

और तुलना की पद्धति भी आपकी कितनी भोंड़ी यान्त्रिक है : **1899 का रूसी मजदूर अध्ययन मण्डलों में भाग लेता था, समाजवादी अखबार-किताबें पढ़ता था, प्रचार-कार्य में भाग लेता था जबकि भारत का औसत मजदूर सिर्फ “आम हड़ताली” की चेतना रखता है। आप यह भूल जाते हैं कि “आम हड़ताली” की चेतना औसत मजदूर की स्वयंस्फूर्त वर्गीय चेतना होती है, जबकि अध्ययन मण्डलों व प्रचार-कार्यों में उसकी भागीदारी के पीछे मूल कारण मनोगत शक्तियों की भूमिका है। यहाँ के क्रान्तिकारी संगठन जब बोल्शेविक ढंग से अध्ययन मण्डल, प्रचार और शिक्षा के कार्य को संगठित करेंगे, तभी तो यहाँ का औसत मजदूर उनमें भागीदारी करेगा! यह काम वह खुद तो नहीं संगठित करेगा। क्रान्तिकारी आन्दोलन के सचेतन प्रयासों के अभाव-असफलताओं से पैदा हुई स्थिति को भी यदि आप नियतिवादी ढंग से जनता के ऊपर थोपेंगे, तो परिस्थितियाँ जितनी कठिन हैं, आपको उससे भी अधिक भयावह लगने लगेंगी। आप अपनी बात को साबित करने के हठ के चलते तथ्यों के साथ प्रायः बलात्कार करते नज़र आते हैं। यह सही है कि भारत का मजदूर आन्दोलन आज ठहराव-उलटाव का शिकार है, पर तुलना करते हुए जब आप 1899 के रूस के बारे में तथ्यों का आविष्कार करने लगते हैं तो काफी विद्रूप दृश्य उपस्थित कर देते हैं। आप 1899 का रूसी मजदूर आन्दोलन की प्रगति और उभार का काफी उत्साही खाका खींचते हैं (पृ. 3 अन्तिम पैराग्राफ), जबकि लेनिन का कहना इसके विपरीत है। उनका कहना है कि 1884 से 1894 तक का दसवर्षीय प्रथम दौर – सामाजिक जनवाद के कार्यक्रम और सिद्धान्त के जन्म लेने का तथा पार्टी की गर्भावस्था का दौर था। 1894 से 1898 तक का दौर आन्दोलन के बचपन और किशोरावस्था का दौर था जब इसने एक सामाजिक आन्दोलन और जन-उभार की शक्ति ली तथा 1898 के वसन्त में पार्टी गठित हुई। 1898 से शुरू हुए तीसरे काल को लेनिन रूसी मजदूर आन्दोलन के फूट, विसर्जन और ढुलमुलपन का काल मानते हैं (देखिये, लेनिन : व्हाट इज़ टु बी डन का निष्कर्ष वाला अन्तिम अध्याय)। यह कठिन दौर 1904 में समाप्त होता है, जब एक ओर लेनिन मॅशेविक अवसरवाद को निर्णायक शिकस्त देकर मार्क्सवादी पार्टी के संगठन के सिद्धान्त (‘एक कदम आगे, दो कदम पीछे’) प्रस्तुत करते हैं, और दूसरी ओर 1905-07 की रूसी क्रान्ति की पूर्वपीठिका राजनीतिक हड़तालों के रूप में शुरू हो जाती है। 1908 से 1912 तक पहली रूसी क्रान्ति की हार के बाद का काल स्तालिनपिन प्रतिक्रियावाद का तथा क्रान्तिकारी शक्तियों के पीछे हटने का कठिन दौर था। पुनः 1912 में बोल्शेविकों द्वारा अपनी स्वतन्त्र पार्टी बनाने तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन के नये उभार के साथ उठान का नया दौर शुरू हुआ, जो फ़रवरी क्रान्ति से होते हुए अक्टूबर क्रान्ति तक जारी रहा। हम जानना चाहेंगे कि आपने रूसी क्रान्ति के इतिहास की कौन सी पुस्तक पढ़ी है जिसमें 1898 से 1903-04 तक के दौर को मजदूर आन्दोलन के आगे बढ़ने का काल बताया गया है?**

और अपनी बात को सिद्ध करने के लिए आँकड़ेबाज़ी भी क्या ख़ूब की है!... कि 1903 के ब्रसेल्स कान्फ़्रेंस के 43 प्रतिनिधियों में तीन मजदूर थे यानी 6.91 प्रतिशत! अगर ऐसा ही मानक बनाया जाये, तो आप को पता होना चाहिए कि भारत के अधिकांश कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों के सम्मेलनों के प्रतिनिधियों में (ग़लत लाइन के बावजूद और औद्योगिक मजदूरों में बहुत कम काम के बावजूद) आप को शहरी-ग्रामीण सर्वहारा पृष्ठभूमि के लोगों का यह प्रतिशत मिल जायेगा। और उनका जो भी आधार है वह ग्रामीण सर्वहारा आबादी में ही (और अब एक हद तक औद्योगिक सर्वहारा में भी) है। वैसे आपको स्वयं अपना भी सांगठनिक इतिहास ठीक से ज्ञात नहीं है। पर आपका भला क्या दोष? फ़ूट-दर-फ़ूट ने ऐसे नौबड़ (Upstart) राजनीतिक नौदौलतियों को भी नेता बना दिया है जिन्हें भूत की जानकारी नहीं और भविष्य के बारे में जिनका रुख़ नज़ूमियों या जुआरियों जैसा है।

•

1899 के रूसी मजदूर आन्दोलन और 1999 के भारतीय मजदूर आन्दोलन की तुलना करते हुए वैसे भी आपने पूरी तरह यान्त्रिक, आधिभौतिक पद्धति अपनायी है। इतिहास-विकास न तो सीधी रेखा में होता है, न ही वृत्ताकार मार्ग से होकर। इसका पथ कुण्डलाकार (Spiral) होता है। विश्व सर्वहारा क्रान्ति की वर्तमान पराजय का यह अर्थ कदापि नहीं कि मजदूर आन्दोलन

रूस, चीन, भारत या कि पूरी दुनिया में आज 1899 से पीछे चला गया है। 1999 में विश्व-ऐतिहासिक विपर्यय (Reversal) का दौर अभी जारी है, पर यह विश्व स्तर पर, या भारत में, मजदूर आन्दोलन का शुरुआती दौर नहीं है। जो नयी शुरुआत हो रही है या होगी, वह एक नये, उन्नत धरातल पर हो रही है या होगी। क्रान्तियों की हार ने विश्व-सर्वहारा से उसकी सारी राजनीतिक-विचारधारात्मक उपलब्धियाँ छीन नहीं ली हैं। हारें भी शिक्षित करती हैं।

कुछ वर्षों पूर्व तक भारतीय मजदूर वर्ग का ज़्यादा बड़ा हिस्सा संशोधनवादियों को ही असली कम्युनिस्ट मानकर उनके पीछे खड़ा था। मुख्यतः वामपन्थी दुस्साहसवादी भटकावों के चलते कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने औद्योगिक सर्वहारा वर्ग में काम नहीं किया। बाद में कुछ गुप्तों ने जब शुरू भी किया, तो वे जुझारू अर्थवाद के भटकाव से ग्रस्त रहे (बाद में नौबत यहाँ तक आ गयी कि आप जैसे भोंड़े अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भी मंच पर हाज़िरी दर्ज कराने लगे)। आज की स्थिति यह है कि मजदूर वर्ग यदि सीटू-एटक और भाकपा-माकपा आदि से टूट रहा है तो इसका सकारात्मक पहलू यह है कि वह नकली कम्युनिज़्म को और ट्रेडयूनियन नौकरशाहों को समझ चुका है। जिन्दगी के कठिन हालात उसे बदहवासी के साथ नये समाधान नये रास्ते की ओर देखने को विवश कर रहे हैं। मार्क्सवाद की यह पुरानी शिक्षा है कि ऐसे में यदि सर्वहारा वर्ग के बीच पूरी ताकत लगाकर क्रान्तिकारी शक्तियाँ प्रचार-शिक्षा, संगठन व आन्दोलन की कार्रवाई नहीं संचालित करेंगी तो मजदूरों का एक हिस्सा (एक ओर खासकर अपेक्षतया तथा अभिजात मजदूरों, दूसरी ओर लम्पट सर्वहाराओं के कुछ हिस्से) फ़ासिस्ट क़तारों में भी जाकर शामिल हो सकता है। हालाँकि साथ ही, यह भी समझ लेना ज़रूरी है कि आज के विशेष विश्व-आर्थिक-राजनीतिक परिदृश्य पर मजदूर वर्ग में फ़ासिस्ट प्रभाव बहुत अस्थायी-अल्पकालिक होगा। **वस्तुगत नहीं, बल्कि मनोगत कारणों से आपको 1999 के भारत की स्थिति 1899 के रूस से भी पीछे दीख रही है।** साथ ही नेतृत्वकारी मनोगत उपादानों (Subjective Factors) की फ़िलहाली कमज़ोरी के नतीजों को भी आप मजदूर वर्ग और उसकी चेतना पर थोपे दे रहे हैं। आपकी राजनीतिक दूर-दृष्टि और निकट-दृष्टि दोनों ख़राब हो चुकी है और 'पोलर ऐक्सिस' भी गड़बड़ है। आभासी यथार्थ को आप सारभूत यथार्थ समझ बैठे हैं। आपकी यह चेतना मिथ्याभासी है।

हर देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन अभी कमज़ोर है। अभूतपूर्व विश्व परिस्थितियों में वह अभी पुनर्निर्माण के प्राथमिक दौर में है। पर यह नयी शुरुआत के पूर्व का ठहराव है। यह सन्नाटा भविष्य के प्रचण्ड उभार के पहले का सन्नाटा है। हमारे विचार से तो आज का समय न केवल (आर्थिक संघर्ष के साथ-साथ) राजनीतिक आन्दोलनों-हड़तालों-संघर्षों-उभारों की नयी तैयारी का समय है, न केवल यह राजनीतिक-विचारधारात्मक शिक्षा-प्रचार का समय है, न केवल यह एक राजनीतिक मजदूर अख़बार के प्रकाशन का, मजदूरों के अध्ययन-मण्डल संगठित करने का तथा सभी (बुर्जुआ व संशोधनवादी) यूनियनों के भीतर क्रान्तिकारी मजदूरों के केन्द्रक व कोशिकाएँ बनाने का समय है; बल्कि यही समय इन कामों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है और यही काम इस समय की सबसे बड़ी ज़रूरत है। यह प्रक्रिया एक बार जब गति पकड़ लेगी तो फिर जल्दी ही भारत की स्थितियाँ आपको 1899 के रूस से ही नहीं बल्कि 1999 के रूस से भी काफ़ी आगे नज़र आने लगेंगी। तब शायद आप तुलना की अपनी यान्त्रिक आधिभौतिक पद्धति के बारे में सोचेंगे और छाती पीटकर मजदूर वर्ग को कोसना बन्द कर देंगे, बशर्ते कि आपकी क्रान्तिकारिता तब तक बची रह जाये।

•

'इस्क्रा' 'प्रावदा' और उनकी भूमिकाओं के बारे में आपने जो विचित्र किन्तु मौलिक स्थापनाएँ अपने पत्र में प्रस्तुत की हैं, उनसे यही स्पष्ट होता है कि आप और आपके नेतागण पार्टी-निर्माण (Party-building) और पार्टी-गठन (Party-formation) तथा इनके द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्धों के बारे में या तो कुछ नहीं जानते या फिर विभ्रमग्रस्त हैं। इसके बारे में आप और आपके रहनुमा अपने भूतपूर्व रहनुमा की अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी, विसर्जनवादी और सामाजिक जनवादी भटकाव से मुक्त नहीं हुए हैं। फ़र्क सिर्फ़ यह पड़ा है कि जनता के बीच काम करने के बारे में उनके पण्डितारु बोध (Perception) के स्थान पर आप की मण्डली का बोध कूपमण्डूकी अनुभववादी है।

पार्टी-निर्माण व पार्टी-गठन के कार्य एक-दूसरे से द्वन्द्वात्मक रूप से अन्तर्सम्बन्धित हैं। इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। पर सर्वहारा वर्ग की एक एकीकृत पार्टी खड़ी होने की पूरी प्रक्रिया में कभी एक तो कभी दूसरे पहलू पर अधिक जोर पड़ता है और कभी-कभी दोनों पहलुओं के कार्य इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि यह कहना मुश्किल होता है कि कौन प्रधान है। एक समग्र-सांगोपांग लाइन के उद्भव और विकास का काम, लाइन के प्रश्न पर कम्युनिस्ट गुप्तों के बीच 'पॉलिमिक्स' का काम और फिर एक सांगठनिक-राजनीतिक प्लेटफ़ार्म पर लाइन की एकता के आधार पर एक एकीकृत पार्टी के गठन की दिशा में आगे बढ़ने की प्रक्रिया - यह पार्टी-गठन का पहलू है।

बुनियादी वर्गों के बीच क्रान्तिकारी व्यवहार में लाइन को ठोस रूप देते हुए पार्टी के चरित्र के क्रान्तिकारी

रूपान्तरण व सुदृढ़ीकरण का काम, सर्वहारा वर्ग व अन्य बुनियादी वर्गों के बीच क्रान्तिकारी प्रचार, शिक्षा, आन्दोलन व संगठन का काम करते हुए उनके बीच से पार्टी-भर्ती का काम या उनके बीच से अलग-अलग स्तर के संगठनकर्ता-कार्यकर्ता तैयार करने का काम तथा उनके बीच व्यापक स्तर पर संगठन का समर्थन-आधार तैयार करने का काम, उनके जनसंगठनों में संगठन की कोशिकाओं का जाल बिछाने का काम और आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों की प्रक्रिया में लाइन का सत्यापन करते हुए क़तारों की अग्निदीक्षा का काम – ये सभी काम पार्टी-निर्माण के पहलू से जुड़े हैं। इस प्रक्रिया में ही पार्टी की कार्यशैली, पद्धति और सांगठनिक ढाँचे के निर्माण की प्रक्रिया पूरी होती है।

पार्टी-निर्माण व गठन के पहलू द्वन्द्वात्मक रूप से अन्तर्सम्बन्धित हैं। यदि किसी गुप के सामने लाइन का सवाल प्रमुख है, तब तक सामाजिक व्यवहार की एक स्पष्ट सीमा रहेगी। पर जैसे ही लाइन का सवाल, एक आम दिशा के स्तर तक ही, हल हो जाये; वैसे ही एक ओर तो उस गुप/संगठन विशेष को तो अन्य बिरादर गुपों-संगठनों के साथ 'पॉलिमिक्स' चलाने का काम तेज़ करना होगा, दूसरी ओर लाइन की अपनी समझ के आधार पर सर्वहारा व अन्य बुनियादी वर्गों को जागृति, गोलबन्द और संगठित करने का काम शुरू कर देना होगा, उनके बीच से पार्टी-भर्ती का काम तेज़ कर देना होगा। यदि इसमें देरी हुई या दूसरे पहलू की उपेक्षा की गयी तो संगठन का मध्यवर्गीकरण हो जायेगा, वह अराजक बुद्धिजीवियों का गिरोह बन जायेगा और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उन्हीं के बीच से कोई धड़ा संकीर्ण अनुभववादी आन्दोलनपन्थी भी बन सकता है – जो जनता के बीच काम के नाम पर बस (आर्थिक व अन्य रोज़मर्रा के) आन्दोलनों में भागीदारी तो करे पर राजनीतिक शिक्षा व पार्टी-भर्ती के काम को या तो छोड़ ही दे या फिर उन्हें भोंड़े ढंग से अंजाम दे।

प्रारम्भिक दौर के बाद से पार्टी-गठन व पार्टी-निर्माण के काम साथ-साथ चलते हैं, पर इनमें से कभी एक तो कभी दूसरे पर ज़ोर अधिक पड़ता रहता है। 'ज़ार्या' और 'ज्वेज़्दा' जैसे पार्टी पत्रों की भूमिका प्रधानतः पार्टी-गठन के कार्य से जुड़ती है क्योंकि 'पॉलिमिक्स' के ज़रिये वह एक पार्टी में सर्वहारा गुपों के एकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाती है। पार्टी-निर्माण से ऐसे पत्रों की भूमिका इस रूप में जुड़ती है कि ये पार्टी कार्यकर्ताओं को शिक्षित भी करते हैं। 'इस्क्रा', 'वपर्योद', 'प्रोलेतारी', 'बोल्ना', 'एखो' और 'प्रावदा' जैसे क़ानूनी-गैरक़ानूनी पत्रों की भूमिका प्रधानतः पार्टी-निर्माण के कार्य से इस रूप में जुड़ती थी कि अलग-अलग रूपों-स्तरों के बावजूद ये सभी पत्र अपने-अपने दौर में व्यापक मज़दूर आबादी के उन्नत संस्तरों को राजनीतिक-विचारधारात्मक शिक्षा देते थे, उन्हें संगठित करते थे, उनके बीच से पार्टी-भर्ती करते थे, पार्टी संगठनकर्ता तैयार करते थे, औसत चेतना के मज़दूरों को (सीधे और उन्नत चेतना के मज़दूरों के बीच से तैयार संगठनकर्ताओं के ज़रिये) बीच से कार्यकर्ता और हमदर्द तैयार करते थे और फिर आन्दोलन के दौरान व्यापक मज़दूर आबादी में पार्टी का समर्थन-आधार व्यापक और मज़बूत बनाने में सहायता करते थे। यहाँ पर यह याद रखना ज़रूरी है कि पार्टी-गठन व पार्टी-निर्माण के कार्यों की तरह अलग-अलग प्रकृति के 'पार्टी ऑर्गन' की भूमिकाओं में भी एक द्वन्द्वात्मक अविभाज्यता है। इनके बीच कोई यान्त्रिक विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती या चीन की दीवार नहीं खड़ी की जा सकती।

पार्टी-पत्रों की प्रकृति के बारे में आपके विभ्रमों की जड़ यह है कि आप न तो पार्टी-गठन न तो पार्टी-निर्माण के बीच का भेद समझते हैं, न ही इनके अन्तर्सम्बन्धों को जानते हैं। 'एजिटेशनल ऑर्गन' के रूप में आप यदि पत्र निकालते भी हैं तो पूरी जनता के लिए – "सर्ववर्ग समभाव" के साथ! आम राजनीतिक-आर्थिक मसलों व नागरिक अधिकार के मसलों पर औसत बुद्धिजीवी, औसत मज़दूर – सभी को एक साथ "शिक्षित" करते हैं! मज़दूर वर्ग को सीधे विचारधारात्मक शिक्षा देने में आपको लाज लगती है। आप समझते हैं कि आप मज़दूरों के आन्दोलनों में (वह भी निहायत अराजक व बचकाने ढंग से) भाग लेते हुए गाड़ी के पीछे घोड़ा जोतते रहेंगे और उनके बीच अपना उपरोक्त चरित्र का अख़बार देते रहेंगे तो औसत मज़दूर उन्नत हो जायेगा और आप तक और विचारधारा तक स्वयं पहुँच जायेगा। आज की परिस्थिति में आप इतना ही करेंगे। कल जब मज़दूर आम हड़ताली की चेतना से आगे खुद बढ़ जायेगा तो आप उसे विचारधारा और संगठन का झण्डा थमा देंगे। आप शेखचिल्ली तो हैं मगर एक कायर शेखचिल्ली हैं!

●

अब ज़रा नाम से लिखने-न-लिखने के सवाल को भी ले लें। दुनिया की सर्वहारा पार्टियों में पार्टी नामों से काम करने-लिखने की परम्परा रही है। कुछ लेख-टिप्पणियाँ आदि बिना नाम के भी जाते रहे हैं ('बिगुल' व अन्य पत्रों में भी प्रायः जाते हैं)। कई देशों में वर्ग-संघर्ष की ठोस स्थिति व ठोस स्वरूप के अनुसार अपने मूल नाम से ही नेतागण भी प्रायः पूरी तरह या अधिकतर लिखते-काम करते रहे हैं। वैसे तो, पार्टी-नामों से भी लिखकर व्यक्ति स्थापित हो सकता है! आपके ख़याल से क्रान्तिकारी पार्टियों में व्यक्तिवाद के खात्मे के लिए पार्टी नाम से लिखने का चलन पड़ा। यह आपकी भोंड़ी अटकलबाज़ी है। पार्टी नामों से लिखने-काम करने की पद्धति राज्यसत्ता के विरुद्ध पार्टियों की एक सम्पूर्ण क्रान्तिकारी (भूमिगत/अवैध)

कार्यप्रणाली का एक अंग था। साथ ही कानूनी पत्रों व खुले कामों के लिए क्रान्तिकारियों के तौर-तरीके कुछ और थे तथा इनके विपरीत के लिए कुछ और। इतिहास से सीखते हुए न तो अटकलबाजी से काम चलेगा, न ही अनुष्ठानधर्मी होने से। सिर्फ लाइन के गम्भीर सवालों पर आन्तरिक बहसों में ही नहीं, आम लेखों-निबन्धों में भी सही और ग़लत लाइनों की अभिव्यक्ति आती है। और ज़रूरत पड़ने पर व्यक्ति-विशेष के सम्पूर्ण लेखन से उसकी लाइन को ढूँढ़ा-देखा जा सकता है। चीन में जब भी कोई नेता विपथगामी हुआ तो उसके दशकों पुराने लेखों-रिपोर्टों और यहाँ तक कि पत्रों तक से उसकी विजातीय लाइन की जड़ों को खोजकर उजागर किया गया।

संगठन का ढाँचा वैचारिक स्तर पर भी एकाशमी (Monolithic) नहीं होता। संगठन के सभी पत्रों में होने वाले लेखनों और सभी जगह होने वाले कार्यों में – लाइनों का ठकराव सूक्ष्मता में उस समय भी होता रहता है जबकि उनका स्वरूप स्पष्ट नहीं रहता। ऐसा भी तो हो सकता है कि अपनी लाइन की विजातियता को कृतारों से छुपाने के लिए कोई व्यक्ति नामहीनता का शोशा उछाले!

नाम से न लिखने से व्यक्तिवाद का निराकरण हो जायेगा – यह कुछ वैसी ही बात है, जैसे तीन दशक पहले लोहियावादियों ने जातिवाद समाप्त करने के लिए नाम से आइटिल हटाने की मुहिम चलायी थी!

वैसे आपने भी अपनी इस मान्यता को लेकर कथनी में जितनी ढींग बघारी है, करनी में उतने अडिक नहीं हैं। आप लोग जो पत्र निकालते रहे हैं, उनमें नाम से भी लेख देते रहे हैं। आप एक व्यक्ति को भी व्यक्तिवाद का शिकार क्यों बना रहे हैं? वैसे आप पत्रों में एक व्यक्ति का नाम सम्पादक के रूप में भी लगातार देते हैं। बिचारे सम्पादक जी तो गये काम से! उनकी मुण्डी तो एकदम व्यक्तिवाद के राक्षस के मुँह में ही रखी है!

वैसे कॉमरेड, देखने में तो ऐसा ही आता रहा है कि प्रायः ऐसे “मौलिक” नियम प्रतिपादन ऐसे व्यक्तिवादी ही करते रहे हैं; जो स्वयं अपने महिमामण्डन के लिए अपने अतीत के बारे में झूठी “गौरवगाथाएँ” प्रचारित करवाते रहे हैं और अपने विरोधियों के चरित्र-हनन के लिए किसी भी हद तक नीचे उतर जाते रहे हैं।

ऐसा लगता है कि कतिपय संगठनों के कतिपय प्रकाशनगृहों के, नेताओं और उनके परिवारजनों द्वारा व्यक्तिगत इस्तेमाल का तथ्य भी आपको ऐसे ही तत्वों ने मुहैया कराया है! ऐसे ही कुत्सा-प्रचारों का घटाटोप कुछ वर्षों पहले कुछ पतित राजनीतिक तत्वों और एक चिटफण्डी बुर्जुआ अख़बार में कार्यरत कुछ भाड़े के कलमघसीटों ने खड़ा किया था। लगता है अब आप जैसों को आगे करके कुछ भाई-बन्द यह मोर्चा सम्हाले हुए हैं। शाबाश! डटे रहिये और इस राजनीतिक कार्यशैली की तार्किक परिणतियों की प्रतीक्षा करते रहिये।

आपका इशारा स्पष्टतः उन प्रकाशनों की ओर है जिनसे ‘बिगुल’ का भी सम्बन्ध है। यूँ, आप जैसों को सफ़ाई देना हम अपनी तौहीन समझते हैं, पर यह बहस जिस व्यापक पाठक समुदाय तक पहुँच रही है, उसे यह बताना ज़रूरी है कि आप द्वारा इंगित प्रकाशनगृह ऐसे संस्थान हैं जिनसे आप व सक्रिय सदस्यों के निकाय तथा प्रकाशनों की चयन समिति/सम्पादन समिति के रूप में प्रगतिशील-वाम बुद्धिजीवियों और घटक संगठनों के प्रतिनिधियों से बने हुए पूर्ण जनवादी ढाँचे हैं जो जनवादी ढंग से संचालित होते हैं। चीज़ें दोस्ती या रक्त सम्बन्धों से नहीं योग्यता, क्षमता और कुर्बानी के आधार पर तय होती है। कभी-कभी ऐसे प्रश्न वे लोग भी उठाते हैं जो क्रान्ति की आँच से अपने घरों-परिवारों को पूरी तरह बचाकर रखते हैं और स्वयं अपनी अयोग्यताओं को लेकर व्यक्तिवादी कुण्ठाओं के शिकार होते हैं।

बहरहाल, अपनी अटकलबाजी के पक्ष में बुद्धिजीवियों के बारे में लेनिन का एक लम्बा उद्धरण आपने दिया है। यह तो कुछ भी नहीं है। काफ़ी अधिक लिखा है **लेनिन** ने इस विषय पर। यदि आप चाहेंगे तो हम भेज देंगे। यूँ ही इधर-उधर चस्पाँ करने के काम आयेगा।

अनावश्यक विद्वता और दार्शनिकता दिखाना तो हमेशा बुरा होता है पर अल्प ज्ञान की स्थिति में तो वह और विद्रूप हो जाता है। कन्फ़्यूशियसवादी होने का आरोप आपने लगाया है। हमने ‘डिक्शनरी ऑफ़ फ़िलॉस्फी’ (Dictionary of Philosophy), ‘ग्रेट सोवियत इनसाइक्लोपीडिया’ (Great Soviet Encyclopaedia) और ‘फ़िलॉस्फी इन चाइना’ (Philosophy in China) (जी. रामकृष्ण) से मदद ली। आप भी ज़रा पढ़ लीजियेगा कि कन्फ़्यूशियसवाद क्या है, फिर लेबल चस्पाँ कीजियेगा। हाँ, कन्फ़्यूशियस ने एक जगह एक बात कही थी कि ज्ञान व्यक्तिगत सम्पत्ति है। शायद आप यही आरोप लगाना चाहते होंगे। पर यही कन्फ़्यूशियसवाद नहीं है। यह उसका मात्र एक कथन है। मार्क्सवादियों को अनर्गल प्रलाप और अप्रासंगिक शब्दों से बचना चाहिए। बिना अनावश्यक पण्डितारूपन दिखाये भी बहस की जा सकती है। सार संग्रहवाद (Eclecticism) पाण्डित्यवाद (Scholasticism) और आत्मधर्माभिमानिता (Self-righteousness) की प्रवृत्तियाँ सभी व्यक्तिवादियों में पायी जाती हैं। और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी राजनीति करने वालों में व्यक्तिवाद प्रचुरता में पाया जाता है।

कुत्सा प्रचार की राजनीति के बारे में मार्क्स के काल से ही काफ़ी कुछ लिखा गया है। हम उन्हें दोहराना ज़रूरी नहीं समझते। आपने शायद पढ़ा ही होगा।



‘बिगुल’ की पचहत्तर प्रतिशत बिक्री मजदूरों के बीच होती है, “इस तथ्य पर अभी प्रश्न चिह्न नहीं” लगाते हुए और इसे “जस का तस लेते हुए” आपका कहना है कि “यह वितरक साथियों की मेहनत-मशक़त की बदौलत हो रहा है, ‘बिगुल’ के लेखों की अन्तर्वस्तु की बदौलत नहीं।” आपका यह सूत्रीकरण भी आपकी राजनीति के चरित्र को उजागर करता है।

हर मार्क्सवादी यह मानता है कि राजनीति या लाइन (लेखों की अन्तर्वस्तु) यदि ग़लत हो तो कार्यकर्ताओं की पहलक़दमी, उत्साह और सर्जनात्मकता कायम नहीं रह सकती। दोनों का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है। स्तालिन और माओ का कहना है कि लाइन जब तय हो जाती है तो कार्यकर्ता-निर्णायक होता है। स्पष्ट है कि वितरक साथियों की मेहनत-मशक़त की निरन्तरता पत्र की अन्तर्वस्तु के सहीपन को ही सत्यापित करती है। जो लोग कार्यकर्ताओं को Docile tool (आज्ञाधीन उपकरण) समझते हैं, वही ऐसा सोच सकते हैं। यह एक नौकरशाह नेतृत्व की सोच है।

आपकी लाइन को पर्याप्त तर्कों सहित हमने एक विजातीय राजनीतिक प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित किया तो आपको लगा कि हम “छूटते ही गाली दे” रहे हैं और “चिप्पे जड़” रहे हैं। आपने हमें नसीहत भी दे डाली कि इससे पार्टी-निर्माण व गठन के काम में मदद नहीं मिलेगी। पर लगता नहीं कि आप स्वयं गाली देने के इतने विरोधी हैं। आपने हम लोगों की राजनीतिक लाइन का सूत्रीकरण करने के नाम पर तो सिर्फ़ कुछ फतवे दिये हैं, पर हमारे ऊपर कमज़ोर व छिछले होने, आत्ममहानता की कृण्ठाओं में जीने, नीतशेवादी व कन्प्यूशियसवादी होने, पाठकों को झाँसा देने आदि-आदि के ऐसे तमाम आरोप लगा डाल हैं जिनके पीछे न तो तथ्य है न ही तर्क। यदि हमारी बात आपको गाली लगी तो आपको या तो नसीहत देनी चाहिए थी या गाली! पर आप “गाली” के खिलाफ़ नसीहत भी देंगे और स्वयं गाली भी देंगे। यह दोमुँहापन नहीं तो और क्या है?

साथी, तिलमिलाने के बजाय अपने तिलमिलाने के कारणों का विश्लेषण कीजिये। सच्चाइयों के प्रति ईमानदार रवैया अपनाना चाहिए। आशा है, आप हमारी आलोचनाओं पर विचार करेंगे और इस बहस को आगे बढ़ाने के लिए पत्र लिखेंगे। ‘बिगुल’ में हम उसे अवश्य स्थान देंगे और बहस चलायेंगे क्योंकि यह उन्नत राजनीतिक चेतना वाले मजदूरों और आम कार्यकर्ताओं को शिक्षित करने में उपयोगी सिद्ध होगा।

क्रान्तिकारी अभिवादन सहित
— सम्पादक, ‘बिगुल’
(20-06-1999)

(अगस्त 1999, विश्वनाथ मिश्र का जवाब)

सर्वहारा वर्ग का हिरावल दस्ता बनने की बजाय उसका पिछवाड़ा निहारने की ज़िद

“बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार” शीर्षक अप्रैल 1999 के सम्पादकीय में साथी पी.पी. आर्य का पत्र हमने जून-जुलाई 1999 अंक में छापा था और उसका उत्तर भी दिया था। पी.पी. आर्य के पत्र पर ही हम इस अंक में साथी विश्वनाथ मिश्र और अरविन्द सिंह की दो टिप्पणियाँ दे रहे हैं। हम एक बार फिर इस बहस में क्रान्तिकारी वामपन्थी शिविर के साथियों की भागीदारी आमन्त्रित करते हैं। – सम्पादक

पी.पी. आर्य का पत्र : कूपमण्डूकी आर्तनाद और शेखीबाज़ी भरे धर्मोपदेश का पिटारा

● विश्वनाथ मिश्र

नागरिक पी.पी. आर्य अपने पत्र में बोल्शेविक नीति और आम कार्यनीति को सिर के बल खड़ा करते हुए यह धर्मोपदेश देते हैं कि मज़दूर आन्दोलन में समाजवादी राजनीति का प्रचार तभी किया जा सकता है, जब वह उठान पर होता है और समाजवादी बातों की ग्राह्यता बहुत अधिक होती है। जब मज़दूर आन्दोलन पीछे हट रहा हो और उसमें प्रतिक्रियावाद का माहौल हो, तब ऐसा करना ग़लत होगा। **यह हिरावलपन्थ होगा।**

लेनिन का एक उद्धरण चेंपते हुए वह बताते हैं कि आन्दोलन के प्रारम्भिक दौरों में कम्युनिस्टों को सिर्फ सांस्कृतिक या आर्थिक कार्य ही करते रहना पड़ता है। पी.पी. आर्य यह नहीं समझते कि मज़दूर आन्दोलन में हार और उलटाव का अर्थ प्रारम्भिक दौर में वापस चले जाना नहीं होता। भारतीय मज़दूर आन्दोलन में वामपन्थी प्रभाव का इतिहास ही अस्सी साल पुराना है। उसे शून्य समझना पराजयवाद है (या फिर शायद ऐसे लोग वहीं से शुरुआत मानते हों जहाँ से राजनीति में उनका जन्म हुआ हो)। केवल आर्थिक कार्य करने वालों को तो मज़दूर वर्ग, बरसों से देख ही रहा है और उनसे पक चुका है। अब उसके सामने क्रान्तिकारी जनकार्य का सही मॉडल प्रस्तुत करने की ज़रूरत है। पराजय भी एक अर्थ में मज़दूरों की चेतना को उन्नत बनाती है। मज़दूर वर्ग में समाजवादी विचारों की ग्राह्यता है या नहीं, यह निर्णय वैज्ञानिक समाजवादी विचारों के प्रचार-कार्य को हाथ में लिये बिना तो वैसे भी नहीं किया जा सकता।

वामपन्थी क्रान्तिकारी आन्दोलन में साथी पी.पी. आर्य जैसे लोगों की अच्छी खासी तादाद है जो आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में सही कार्यनीति अपनाने के बजाय रोते-कलपते-बिसूरते हुए सर्वहारा वर्ग के बीच सर्वोपरि प्राथमिकता देकर किये जाने वाले राजनीतिक कामों का ही परित्याग कर देते हैं। और यह स्वाभाविक है क्योंकि उनका मानना है कि भारत के लगातार पीछे हटते मज़दूर आन्दोलन में उन्नत चेतना वाले मज़दूर रह ही नहीं गये हैं। इसीलिए उनका मानना है कि राजनीतिक शिक्षा और प्रचार तथा मज़दूर वर्ग के बीच पार्टी-निर्माण के काम को छोड़कर अपने को सिर्फ आर्थिक कार्यों और निम्न स्तर की सुधार की कार्रवाइयों तक ही सीमित रहना चाहिए।

यह कूपमण्डूकी “आर्तनाद” सर्वहारा क्रान्तियों के इतिहास में कठिन स्थितियों में पहले भी उठता रहा है। “**कठिनाइयों और ग़लतियों से हतोत्साहित होना भीरुता है; यह कूपमण्डूकों का “आर्तनाद” है, जबकि हमें दरकार धीर, सतत और अनवरत सर्वहारा प्रयास की है**” (लेनिन : ‘बोल्शेविज़्म का विद्रूप’, ‘अराजकतावाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद’ शीर्षक संकलन, पृ. 230, प्रगति प्रकाशन, 1984)।

भारतीय क्रान्तिकारी वामपन्थी आन्दोलन में अर्थवादी और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी प्रवृत्तियों के उद्भव और विकास को समझने में रूसी क्रान्ति के इतिहास से हमें काफी मदद मिलती है। ट्रेडयूनियनों के प्रति पार्टी के रवैये के बारे में **वोइनोव**

(ए.वी. लुनाचास्की) की पुस्तिका की भूमिका में लेनिन ने लिखा था, “पश्चिमी यूरोप के बहुतेरे देशों में क्रान्तिकारी संघाधिपत्यवादी अवसरवाद, सुधारवाद और संसदीय जड़वामनवाद का एक प्रत्यक्ष और अपरिहार्य परिणाम था। हमारे देश में भी “दूमा कार्रवाई” के पहले कदमों ने अवसरवाद को अपार विस्तार प्रदान किया और मेशेविकों को कैडेटों के जी-हजूरियों में तब्दील कर दिया। मिसाल के तौर पर, प्लेखानोव, अपने दैनन्दिन राजनीतिक कार्य में वस्तुतः प्रोकोपोविच और कुस्कोवा महाशयों के साथ घुल-मिल गये। 1900 में उन्होंने बर्नस्टीनवाद के लिए, रूसी सर्वहारा के सिर्फ “चूतड़” ही निहारने के लिए, उनकी भर्त्सना की थी (‘राबोचेये देलो’ के सम्पादक मण्डल के लिए *Vademecum*, जेनेवा, 1900)। पर 1906-07 में पहले ही मतपत्रों ने प्लेखानोव को इन सज्जनों की बाँहों में धकेल दिया जो अब रूसी उदारतावाद का “चूतड़” निहार रहे हैं। संघाधिपत्यवाद रूस की ज़मीन पर “प्रतिष्ठित” सामाजिक जनवादियों के इस लज्जास्पद आचरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया की तरह उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता।” (लेनिन : कलेक्टड वर्क्स, खण्ड 13, पृ. 166)।

लेनिन के इस तर्क को हम अपने देश के मजदूर आन्दोलन के इतिहास पर भी लागू कर सकते हैं। तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद लगभग पन्द्रह वर्षों के संशोधनवादी घटाटोप की प्रतिक्रिया के तौर पर ही चारु मजूमदार का वामपन्थी दुस्साहसवादी भटकाव पैदा हुआ। सही ढंग से और साहसपूर्ण ढंग से इस भटकाव का समाहार करने के बजाय पैबन्द लगाकर और इंच-इंच खिसककर ग़लती को ठीक कर लेने की ग़लत पहुँच (अप्रोच) के कारण सत्तर और खासकर अस्सी के दशक में कई वामपन्थी क्रान्तिकारी संगठन अलग-अलग रूपों में अर्थवाद, सुधारवाद, संसदवाद या अकादमिकवाद के गड्ढे में जा गिरे। इसकी एक प्रतिक्रिया यदि वामपन्थी दुस्साहसवाद की धारा की निरन्तरता के रूप में हो रही है तो दूसरी प्रतिक्रिया अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद के रूप में सामने आ रही है।

पी.पी. आर्य जैसे लोगों की धारा एक मिली-जुली धारा है जो मिली-जुली स्थिति की प्रतिक्रिया और परिणाम है।

वामपन्थी क्रान्तिकारी धारा में राजनीतिक कार्यों के सामाजिक जनवादी, अकादमिक और ‘पैस्सिव रैडिकल’ स्वरूप और उसकी परिणतियों के प्रतिक्रियास्वरूप ऐसे लोग राजनीतिक कार्यों की सर्वोपरिता और नेतृत्वकारी भूमिका को ही खारिज करने लगे हैं और बुनियादी आर्थिक कार्यों को ही आज की एकमात्र ज़रूरत बताने लगे हैं। ऐसा करते हुए वे और आगे बढ़कर, प्रकारान्तर से, पार्टी-निर्माण के पहलू की ही उपेक्षा करने लगते हैं और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी पोज़ीशन अपना लेते हैं। दूसरी तरफ़, जब वे उन्नत चेतना वाले मजदूरों को राजनीतिक शिक्षा व नेतृत्व देने तथा उनके बीच से पार्टी-भर्ती के काम की महत्ता को नकारते हुए मजदूरों के व्यापक, औसत और निम्न चेतना के संस्तरों तक पहुँचने की बात करते हैं तो स्पष्टतः गाड़ी के पीछे घोड़ा जोतने लगते हैं और भारतीय सर्वहारा वर्ग के नेता, शिक्षक, संगठनकर्ता की भूमिका निभाने की बजाय उसका “चूतड़” निहारने लगते हैं।

पी.पी. आर्य जैसे लोग कूपमण्डूकीय “आर्तनाद” करते हुए बताते हैं कि मजदूर वर्ग में भी अभी सीधे राजनीति और विचारधारा के प्रचार की कार्रवाई नहीं की जा सकती, क्योंकि आज भारत का मजदूर आन्दोलन लगातार पीछे हट रहा है। उनका मानना है कि आज हमें आर्थिक कार्य और निम्न स्तर के सांस्कृतिक कार्य तक सीमित रहना चाहिए। आपने इसका सही उत्तर दिया है कि ऐसी स्थिति में तो राजनीतिक कार्य की नेतृत्वकारी भूमिका और महत्ता और अधिक होनी चाहिए। जो लोग यह सोचते हैं कि मजदूर वर्ग को आर्थिक संघर्ष की शिक्षा देते-देते राजनीतिक संघर्ष की शिक्षा देने की मंज़िल तक पहुँचाया जाता है (या वह खुद ही अपने को शिक्षित कर लेता है) वे मेशेविक ही तो हैं।

रूस में जिस समय 1905-07 की प्रथम क्रान्ति पराजय के कठिन दौर में प्रवेश कर रही थी, उस समय भी लेनिन ने ट्रेडयूनियनों में क्रान्तिकारी कार्य की सर्वोपरिता को ही ज़ोर देकर रेखांकित किया था। लेनिन की ऊपर उद्धृत रचना के ही इस अंश पर गौर कीजिये, जो उन्होंने नवम्बर 1907 में लिखी थी :

“कॉमरेड वोइनोव का रूसी सामाजिक जनवादियों (यानी कम्युनिस्टों – अनु.) से अवसरवाद के उदाहरण से और संघाधिपत्यवाद के उदाहरण से सीखने का आह्वान करने की लाइन अपना सही ही है। ट्रेडयूनियनों में क्रान्तिकारी कार्य, संसदीय तिकड़म के बजाय सर्वहारा वर्ग की शिक्षा पर ज़ोर देना, शुद्ध वर्ग संगठनों को गोलबन्द करना, संसद के बाहर संघर्ष, रूसी क्रान्ति में आम हड़ताल और “संघर्ष के दिसम्बरी रूपों” के उपयोग की क्षमता विकसित करना (और जनता को इनके सफल इस्तेमाल की सम्भावना के लिए तैयार करना) – यह सब बोल्शेविक प्रवृत्ति के कार्यभार के रूप में बहुत अधिक अहमियत हासिल कर लेता है” (पूर्वोद्धृत, पृ. 167)।

नागरिक पी.पी. आर्य के पत्र से आम कार्यनीति की जो अधकचरी समझ टपक रही है, उसका दिवाला पिटने में देर नहीं लगेगी। इस राजनीति पर ‘जेनुइन’ मार्क्सवादी संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं को बहुत दिनों तक एकजुट नहीं रखा जा सकता, चाहे विरोधी संगठनों के बारे में जितना भी गाली-गलौज, कुत्सा-प्रचार किया जाये। जो मार्क्सवाद की छीछालेदर करने की कोशिश करते हैं, मार्क्सवाद उनकी अत्यन्त दुर्गतिपूर्ण छीछालेदर कर देता है।

(अगस्त 1999, अरविन्द सिंह का जवाब)

भारतीय मज़दूर आन्दोलन की पश्चगामी* यात्रा के हिरावल “सेनानी”

कॉमरेड पी.पी. आर्य के खयाल से, आज भारत का मज़दूर आन्दोलन इतना अधिक पीछे चला गया है कि उसके बीच राजनीतिक-विचारधारात्मक शिक्षा और प्रचार का कोई मतलब ही नहीं है। उनके खयाल से ‘बिगुल’ के लोग “मज़दूर आन्दोलन की वर्तमान कमज़ोर स्थिति” और “राजनीतिक चेतना की गिरावट का ठीक-ठीक अन्दाज़ा ही नहीं लगा पा रहे हैं”, इसलिए “मज़दूर आन्दोलन पर ऐसी बहुत-सारी सामग्री लादने की कोशिश कर रहे हैं जो आन्दोलन की आवश्यकताओं से मेल नहीं खाती है।” पी.पी. आर्य का खयाल है कि आज जैसी स्थिति में मज़दूरों के बीच आर्थिक और निम्न स्तर के सांस्कृतिक-शैक्षिक कार्य ही किये जा सकते हैं। ज़्यादा से ज़्यादा वे इतनी ही इजाज़त देने को तैयार हैं कि “मास पोलिटिकल पेपर” में “वैज्ञानिक समाजवादी दृष्टिकोण से शोषण के वर्गीय स्वरूप, राजसत्ता की वर्गीय पक्षधरता, देश-समाज की घटनाओं का वर्गीय विश्लेषण होना चाहिए।” और यह कि “यह भण्डाफोड़ लेखों से भरा होना चाहिए।”

वैसे तो राजनीतिक मोतियाबिन्द की वजह से पी.पी. आर्य शायद यह देख नहीं पाये हैं कि ‘बिगुल’ में मज़दूरों को राजनीतिक शिक्षा देने के लिए ज़्यादातर, देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे जन संघर्षों, हड़तालों और उनकी हार-जीत के विश्लेषण को तथा सरकारी नीतियों-फ़ैसलों और अहम राजनीतिक घटनाओं के विश्लेषण को ही माध्यम बनाया जाता है। हाँ, ऐसे भण्डाफोड़ यह समाहारमूलक लेखों का स्तर उन्नत चेतना के मज़दूरों और कार्यकर्ताओं के हिसाब से प्रधानतः तय होता है। इसके अतिरिक्त, इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं व नायकों की वर्षगाँठों के माध्यम से, कुछ स्वतन्त्र वैचारिक टिप्पणियों के माध्यम से तथा बहुत सीमित हद तक सीधे विचारधारा पर केन्द्रित लेखों के माध्यम से राजनीतिक शिक्षा दी जाती है और क्रान्तिकारी वामपन्थ की वर्तमान समस्याओं और कार्यभारों के बारे में बताया जाता है।

पर मुख्य बात यह नहीं है। पी.पी. आर्य का मूल प्रस्थान-बिन्दु ही यह है कि हमें औसत और आम मज़दूर को ध्यान में रखकर आर्थिक एवं जनवादी-राजनीतिक अधिकार आदि के मसलों पर लिखना चाहिए और आज की स्थिति में मुख्यतः आर्थिक-सांस्कृतिक कामों तक ही सीमित रहना चाहिए।

सम्पादकीय प्रत्युत्तर (जून-जुलाई 1999 अंक) में इस बात को भलीभाँति स्पष्ट किया गया है कि प्रतिकूलतम स्थितियों में भी राजनीतिक अख़बार के ज़रिये, मुख्यतः वर्ग-सचेत मज़दूरों को क्रान्तिकारी हरावल पाँतों तक लाने के लिए प्रचार, शिक्षा, आन्दोलन व संगठन की कार्रवाई चलायी जानी चाहिए। इस सोच से विचलन लेनिनवादी कार्यनीति से विचलन होगा।

हम यहाँ जोड़ना यह चाहते हैं कि हर सामाजिक जनवादी (I) जनता में आस्था की कमी के कारण उसके पिछड़ेपन को बढ़ा-चढ़ाकर आँकता है, (II) साहसपूर्ण प्रयासों और राजनीतिक पहल की चुनौतियों से कतराकर जनता और वस्तुगत परिस्थितियों पर दोष मढ़ता रहता है (III) आभासी यथार्थ को ही सारभूत यथार्थ मानता रहता है और (IV) वस्तुनिष्ठता का आग्रह करता हुआ कूपमण्डूकी कायरता की खोल में घुस जाता है।

1905 की क्रान्ति के पहले, ऊपरी तौर पर रूसी जनता बहुत अशिक्षित और पिछड़ी हुई थी, यह 22 जनवरी, 1905 के “खूनी इतवार” को गोपन पादरी के नेतृत्व में ज़ार से दरख़्वास्त के मजमून से भी साफ़ था। इन्हीं स्थितियों में “खूनी इतवार” से ठीक दो दिन पहले “कानूनी मार्क्सवादी” (वस्तुतः उदारवादी-राजतन्त्रवादी पूँजीवादी) स्ट्रूवे (जो रूस के बाहर से गैरकानूनी स्वतन्त्र अख़बार ‘ओस्वोबोन्देनिये’ निकालता था) ने कहा था कि “रूस में अभी तक क्रान्तिकारी जनता नहीं है।” आगे लेनिन के शब्दों में, “पूँजीवादी सुधारवादियों के उस उच्च शिक्षित, महादम्भी और नितान्त निर्बुद्धि नेता को यह विचार बहुत ही मूर्खतापूर्ण लगा था कि एक निरक्षर किसान देश भी क्रान्तिकारी जनता पैदा कर सकता है। उन दिनों के सुधारवादियों को – आज के सुधारवादियों की तरह ही – इस बात का कितना गम्भीर विश्वास था कि एक वास्तविक क्रान्ति असम्भव है।

* पश्चगामी – पीछे जाने वाली

“22 जनवरी (पुराने कैलेण्डर से 9 जनवरी), 1905 से पहले रूस की क्रान्तिकारी पार्टी में थोड़े से गिने-चुने लोग ही थे, और उन दिनों के सुधारवादी (ठीक आज के सुधारवादियों की तरह ही) हमें एक “सम्प्रदाय” कहकर हमारी हँसी उड़ाते थे। कुछ सौ क्रान्तिकारी संगठनकर्ता, स्थानीय संगठनों के कुछ हज़ार सदस्य, आधा दर्जन क्रान्तिकारी पर्चे जो महीने में एक बार से अधिक नहीं निकल पाते थे और मुख्यतः विदेशों से प्रकाशित होते थे तथा अकल्पनीय कठिनाइयों और भारी कुर्बानियों की कीमत पर रूस में चोरी-छिपे पहुँचाये जाते थे – ऐसी थी 22 जनवरी, 1905 से पहले रूस की क्रान्तिकारी पार्टियाँ और ऐसा था विशेषतः क्रान्तिकारी सामाजिक जनवाद। ऐसी परिस्थिति के कारण संकुचित बुद्धि और दम्भी सुधारवादियों को यह दावा करने के लिए नियमित आधार मिला कि रूस में उस समय तक क्रान्तिकारी जनता का अस्तित्व नहीं था।

“फिर भी कुछ महीनों के भीतर ही तस्वीर एकदम बदल गयी। क्रान्तिकारी सामाजिक जनवादियों की संख्या “यकायक” सैकड़ों से बढ़कर हज़ारों तक पहुँच गयी और वे हज़ारों, बीस से तीस लाख सर्वहारा के नेता बने। सर्वहारा वर्ग के संघर्ष ने पाँच करोड़ से दस करोड़ तक किसान जनता में गहरी और ज़ोरदार अशान्ति तथा आंशिक रूप से एक क्रान्तिकारी आन्दोलन को जन्म दिया। किसान आन्दोलन की गूँज फ़ौज में पहुँची, जिसके फलस्वरूप सैनिकों के विद्रोह हुए, फ़ौज के एक हिस्से और दूसरे हिस्से के बीच हथियारबन्द टक्करें हुईं। इस तरह तेरह करोड़ आबादी के एक विशाल देश ने क्रान्ति में प्रवेश किया। इस प्रकार ऊँघता हुआ रूस क्रान्तिकारी सर्वहारा और क्रान्तिकारी जनता के रूस में परिणत हो गया।”

(लेनिन : ‘लेक्चर ऑन द 1905 रेवोल्यूशन’, कलेक्टड वर्क्स, खण्ड 23, पृ. 238, 9 जनवरी 1917 से पहले लिखित)

कॉमरेड पी.पी. आर्य जैसे लोगों को आज के भारत के मजदूरों में, स्त्रूवे की तरह ही दूर-दूर तक क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ नज़र नहीं आ रही हैं। वे सन्नाटे की सतह के नीचे की विस्फोटक संकटापन्न स्थितियों के सीझने-पकने की क्रिया को नहीं देख पा रहे हैं। उन्हें सबकुछ लगातार पीछे जाता हुआ ही दीख रहा है।

हम लेनिन के उपरोक्त भाषण के हवाले से ही बता दें कि जनवरी 1905, यानी क्रान्ति के पहले महीने में हड़तालियों की संख्या 4 लाख 40 हज़ार थी, जो क्रान्ति के पहले के पूरे दस वर्षों में हड़तालियों की संख्या (4 लाख 30 हज़ार) से भी अधिक थी। अक्टूबर, 1905 में यह संख्या 5 लाख से अधिक (सिर्फ़ एक माह में) हो चुकी थी। यह भी महत्वपूर्ण है कि जनवरी, 1905 में विशुद्ध राजनीतिक हड़तालियों की संख्या 1 लाख 23 हज़ार, अक्टूबर में 3 लाख 30 हज़ार और दिसम्बर में 3 लाख 70 हज़ार थी।

इस परिवर्तन और राजनीतिक चेतना में चमत्कारी, विस्फोटक विकास के लिए, पी.पी. आर्य को भी इसकी सम्भावनाओं, रीतियों और रास्तों को, लेनिन का सुझाव मानकर समझने की कोशिश करनी चाहिए।

गेपन पादरी की रहनुमाई में ज़ार बादशाह को दरख्वास्त देने वाले रूसी मजदूरों से, आज के भारतीय मजदूरों की चेतना, तमाम उलटावों-पराजयों के बावजूद आगे है। आभासी यथार्थ के पीछे का सारभूत यथार्थ यह है कि वह नक़ली वामपन्थी और बुर्जुआ मजदूर नेताओं के पीछे खड़ा होते हुए भी, उनके बारे में कोई भ्रम नहीं रखता। उधर, देश का आर्थिक-राजनीतिक संकट 1905 के रूस से अधिक चौतरफ़ा और व्यापक है। इसके विस्फोट तक की यात्रा में समय ज़्यादा लग सकता है, पर साथ ही, यह भी पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता कि यह बहुत दूर है।

अपने उपरोक्त भाषण में ही लेनिन ने आगे तत्कालीन (जनवरी, 1917 के) यूरोप के बारे में कहा है, “हमें यूरोप की वर्तमान श्मशानवत शान्ति से धोखा नहीं खाना चाहिए। यूरोप क्रान्तिगर्भित है।” आज भारत ही नहीं, पूरे एशिया, अफ़्रीका, लैटिन अमेरिका के देशों तथा रूस व पूर्वी यूरोप के कई एक देशों के बारे में भी यही कहा जा सकता है।

1905 की क्रान्ति की असफलता के अहम कारण यह थे कि (i) वहाँ सर्वहारा क्रान्तिकारी एकजुट नहीं थे, (ii) मजदूरों के एक हिस्से में मेंशेविकों का प्रभाव था (iii) किसान क्रान्ति में अपेक्षित सक्रिय सहयोग नहीं बन सके और (iv) कम्युनिस्टों का एक बड़ा हिस्सा क्रान्तिकारी विस्फोट की आसन्नता और प्रचण्डता का पूर्वानुमान नहीं लगा पाया था।

इस आधार पर सोचें तो आज के भारत की “श्मशानवत शान्ति” से धोखा खाने के बजाय यहाँ के सर्वहारा क्रान्तिकारियों को मजदूरों (और किसानों के बीच भी) में राजनीतिक प्रचार और उनके बीच सांगठनिक आधार को व्यापक बनाने का काम तथा आर्थिक संघर्ष के साथ-साथ कारख़ानों के संकुचित दायरे से बाहर आकर सरकार की नीतियों के खिलाफ़ व्यापक राजनीतिक संघर्षों, राजनीतिक हड़तालों के लिए उन्हें तैयार करने का काम तेज़ कर देना होगा। सर्वहारा पार्टी के पुनर्गठन-पुनर्निर्माण के प्रयासों को नये सिरे से गति देनी होगी और मजदूरों के बीच से हर तरह के सामाजिक-जनवादी प्रभावों को उखाड़ फेंकना होगा।

इस ‘आपरेटिव पार्ट’ तक आते-आते पी.पी. आर्य जैसों की राजनीति से बिगुल-वादियों की राजनीति का अन्तर एकदम

दिन के उजाले की तरह साफ़ हो जाता है।



पी.पी. आर्य के हिसाब से मज़दूर वर्ग को वही विचार दिये जाने चाहिए जिनकी ग्राह्यता (रिसेप्टिविटी) हो! आज मज़दूर समाजवादी विचारों को नहीं सुनता है (हालाँकि यह एक कूपमण्डूक का कायरतापूर्ण अनुभववादी आकलन है, सर्वहारा वर्ग हर हमेशा समाजवाद के विचारों को सुनता है – कभी कम तो कभी ज़्यादा, और जब कम लोग सुनते हैं तो प्रचार की अहमियत और बढ़ जाती है) अतः हमें “स्थान-काल के भेद का ख़याल” करते हुए अभी उन्हीं बातों का प्रचार करना चाहिए जो सर्वहारा वर्ग को “ग्राह्य” हों और वही काम करना चाहिए जो (संकुचित स्वार्थ की दृष्टि से) उसे पसन्द आये यानी कुछ आर्थिक और कुछ सुधारपरक कार्य!

बकौल साथी आर्य, “भारत का मज़दूर आन्दोलन आगे नहीं बढ़ रहा है, बल्कि पीछे हट रहा है”, अतः आगे बढ़ने के बजाय पीछे हटने में ही नेतृत्व देते हुए आर्य जी जैसे लोग आज अपनी हरावल भूमिका निभा रहे हैं! और विचारों के स्तर पर लगातार पीछे जाने में मार्गदर्शन करते हुए, कई मायनों में वे ‘ओस्वोबोन्देनिये’-पन्थियों और ‘राबोचाया देलो’-पन्थियों से भी पीछे पहले इण्टरनेशनल के ज़माने के ब्रिटिश ट्रेडयूनियनवादियों तक जा पहुँचे हैं। ईश्वर जाने, मज़दूर आन्दोलन कब पीछे हटना बन्द करेगा, ताकि हमारे साथियों की भी इस पश्चगामी यात्रा पर रोक लग सके!

रॉबर्ट शॉ नाम का एक अंग्रेज़ रंगसाज मज़दूर था। वह पहले इण्टरनेशनल के संस्थापक सदस्यों में से एक था। जनवरी 1870 में, उसकी मृत्यु के बाद **मार्क्स** ने जो स्मृति-लेख लिखा था, उसमें उन्होंने यह चर्चा की थी कि उस समय की ब्रिटिश ट्रेडयूनियनयन मूलतः स्थानीयतावादी थीं और वेतन और कुछ सुधार आदि की माँगों तक ही सीमित थीं। ब्रिटिश ट्रेडयूनियनवादी नेता हर क़ीमत पर इस ढाँचे को बरकरार रखना चाहते थे, जबकि “रॉबर्ट शॉ ने इण्टरनेशनल की स्थापना के बाद इन अभिप्रेत बन्धनों को छिन्नभिन्न कर डालने तथा यूनियनों को सर्वहारा क्रान्तिय के संगठित केन्द्रों में बदल डालने के काम को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया।” (मार्क्स-एंगेल्स : कलेक्टड वर्क्स, खण्ड 21, पृ. 92)।

उसी दौर के ब्रिटिश ट्रेडयूनियनवादियों की तरह पी.पी. आर्य जैसे लोग सोचते हैं कि अभी “मज़दूर-यूनियनों को सर्वहारा क्रान्ति के संगठित केन्द्रों में बदल डालने की कोशिश” नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि स्थान-काल अभी इसके अनुकूल नहीं है। हमेशा यदि अनुकूल परिस्थितियों के इन्तज़ार की तथा परिस्थितियों, जनता और मनमाफ़िक़ बात न करने वालों को कोसने-सरापने की आदत पड़ जाये तो विज्ञान के अध्ययन और क्रान्तिकारी व्यवहार के साथ-साथ, कलेजा मज़बूत करने के लिए गोर्की की ‘तूफ़ानी पितरेल पक्षी का गीत’ जैसी रचनाएँ भी पढ़नी चाहिए।

क्रान्तिकारी वामपन्थी शिविर के एक “महामण्डलेश्वर” हैं जिनका विचार है कि चूँकि कार्यकर्ताओं की राजनीतिक चेतना का धरातल बहुत नीचे है अतः आज न तो एक सुसंगत सांगठनिक ढाँचा बनाया जा सकता है, न ही जनवादी केन्द्रीयता के सांगठनिक उसूलों को लागू किया जा सकता है। साथी पी.पी. आर्य का कहना है कि चूँकि समूचे मज़दूरों की चेतना का धरातल बहुत नीचे है, अतः उनके बीच राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक संघर्ष का काम नहीं किया जा सकता और उनके लिए ऐसा पत्र नहीं निकाला जा सकता जो राजनीतिक शिक्षक-प्रचारक-आन्दोलनकर्ता-संगठनकर्ता की भूमिका निभाये और सर्वोपरि तौर पर उन्नत चेतना के मज़दूरों की अल्पसंख्या पर ध्यान दे (क्योंकि वे हैं ही नहीं)! इन दोनों “मौलिक”-“महान” विचार-सरणियों के बीच के योजक-सूत्रों को कार्यकर्ता ही नहीं, उन्नत चेतना वाले मज़दूर भी आसानी से देख सकते हैं। दरअसल पी.पी. आर्य जैसे लोगों की अधकचरी सोच उपरोक्त “महामण्डलेश्वर” की परिपक्व विसर्जनवादी लाइन का ही ‘बाई-प्रोडक्ट’ है। कुछ “नवीन मौलिक प्रतिभाओं” ने नयी लाइन की पौध तैयार करने के लिए कलम लगायी है, लेकिन उसी पुराने पेड़ पर जो काफ़ी पहले से रोग-ग्रस्त है।

बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर बहस को आगे बढ़ाते हुए

प्रति,
सम्पादक
बिगुल
21 अगस्त 1999
प्रिय साथी,

मेरे पत्र को अपने अखबार में छापने के लिए धन्यवाद स्वीकार करें। जुलाई, 1999 के अन्त में अंक 6-7 की प्रति प्राप्त हुई। इसमें अन्य सामग्री के साथ आपका जवाब भी पढ़ा। जवाब में आपने बहस को आगे बढ़ाने का वादा किया है, अतः यह प्रतिक्रिया भेज रहा हूँ।

सबसे पहले मैं यह आपत्ति दर्ज कराना चाहूँगा कि मेरे पत्र की वास्तविक तिथि 6 मई, 1999 थी। परन्तु बिगुल में आपने इसे 5 जून, 1999 छाप दिया है। यह 'प्रूफ' की एक सामान्य ग़लती हो सकती है और सामान्य स्थितियों में मैं इसे चिह्नित भी नहीं करता। परन्तु इस समय इसे चिह्नित करके ठीक कर लेना ज़रूरी है क्योंकि इससे हमारे-आपके बीच और बिगुल के पाठकों, दोनों के लिए ग़लतफ़हमियाँ पैदा हो सकती हैं। आपके जवाब की तारीख़ 20-06-99 है। अतः यहाँ यह साफ़ हो लेने की ज़रूरत है कि आपके पास मेरे पत्र का जवाब तैयार कर लेने के लिए पर्याप्त वक़्त था और कि यह जवाब आप की सोची-समझी अवस्थिति है।

आपके जवाब पर सामान्य टिप्पणी

आपके जवाब पर हमारी सामान्य प्रतिक्रिया यह है कि इसमें :

- आपने अपने विरोधी की बातों को तोड़-मरोड़कर पेश किया है। इतना ही नहीं, आपने अपने विरोधी के मुँह में वे बातें भी ढूँढने की कोशिश की है, जो उसने कही ही नहीं हैं। कई बार तो आप अपने विरोधी की सुस्पष्ट लिखित अवस्थिति से ठीक उल्टी बात उसके मुँह में ढूँढने की कोशिश करते हैं।
- आपने हमारी ही नहीं लेनिन और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की लिखित बातों और ऐतिहासिक तथ्यों को भी तोड़-मरोड़कर पेश किया है।
- आपने मूल विषय से बहस को भटकाने की कोशिश की है। इसके लिए आपने बड़े-बड़े शब्दों, भारी-भरकम वाक्यांशों का भी प्रयोग किया है। इसके अलावा, आपने बहस को नये विषयों पर सरकाने की कोशिश की है।

लेनिन ने एक जगह लिखा है, “राजनीति में ईमानदारी ताक़त का परिणाम होती है और पाखण्ड कमज़ोरी का परिणाम होता है।” (वाद-विवाद सम्बन्धी टिप्पणियाँ, संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड 17, पृष्ठ 166, 1963 अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा) क्रान्तिकारियों के बीच के रिश्तों में और उनके बीच चलने वाली बहसों में ऐसी ग़लत कार्यशैली अपनाना कहीं से भी स्वस्थ बात नहीं है। अपने पत्र में हम आप की इस ग़लत कार्यशैली को विशिष्ट तौर पर कई बार चिह्नित करेंगे। परन्तु इसके बावजूद, हम इन बातों पर आपकी बहुत विस्तृत आलोचना नहीं करेंगे क्योंकि, हम नहीं चाहते कि बहस अपने मूल विषय “बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप” से भटककर इन्हीं बातों में उलझकर रह जायें। आपके ग़ैर-राजनीतिक आचरण को दरकिनार करके हम बहस को मूल विषय पर ही केन्द्रित करेंगे। अतः पत्र के अगले भाग में कुछ महत्वपूर्ण ग़लतियों को उनकी विशिष्टता में चिह्नित करने के बाद हम सीधे बहस के मूल विषय पर केन्द्रित करने का प्रयास करेंगे।

बिगुल द्वारा 'पॉलिमिक्स' संचालित करने की ग़लत कार्यशैली

सर्वप्रथम, हम यह स्पष्ट करने की ज़रूरत समझते हैं कि हमने अपने पत्र में कोई शीर्षक नहीं दिया था। हमारे पत्र के ऊपर शीर्षक लगाने का काम आपने किया है। किसी के पत्र को शीर्षक देना क़तई ग़लत नहीं है। परन्तु ईमानदारी का तकाज़ा यह है कि सम्पादक पत्र की मूल भावना के अनुरूप शीर्षक दे। सम्पादक के पास यह नैतिक अधिकार तो क़तई नहीं होता कि वह शीर्षक में ऐसी बातें लिखे जो पत्र में बिल्कुल न हों। 6 मई, 1999 के पत्र में कहीं पर भी “कैरियरवादी बुद्धिजीवी” शब्द इस्तेमाल नहीं किया गया है। हमने आपको “कैरियरवादी बुद्धिजीवी” नहीं कहा है। तब किस नैतिक ज़मीन पर खड़े होकर आप इसे शीर्षक में डालते हैं? ऐसी शैली अपनाकर आप बिगुल के पाठकों की निगाह में गिरते हैं।

मेरे पत्र में 'बुद्धिजीवी' शब्द ज़रूर 3-4 बार आया है। वह भी पृष्ठ 5 के तीसरे कॉलम के पहले और दूसरे पैरा में (बिगुल के अंक 6-7 में)। यह हिस्सा पढ़ने पर किसी को लग सकता है कि हमने 'कैरियरवादी बुद्धिजीवी' तो नहीं परन्तु 'बुद्धिजीवी' शब्द इस्तेमाल किया। यहाँ भी ग़लती हमारी नहीं, आपकी है। आपने इन पैराग्राफों पर से उद्धरण चिह्न (Quotation Mark) ग़ायब कर दिये हैं। इनको पढ़कर ऐसा लगने लगता है कि वे बातें लेनिन की पुस्तक 'एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे' से न होकर हमारी अपनी बातें हैं। अगर यह हमारी अपनी बात होती, तब तो शायद आपको इसे शीर्षक देने का नैतिक अधिकार होता। परन्तु अपनी प्रस्थापनाओं को स्थापित करने के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले उद्धरणों में से शब्द को पकड़कर शीर्षक में इस्तेमाल करना ईमानदारी भरी बहस का परिचायक नहीं होता। ऐसे काम को तोड़-मरोड़कर पेश करना कहते हैं।

दूसरी बात यह कि आपने अपने जवाब में हमें अनेक विश्लेषणों और मनगढ़न्त आरोपों से सुशोभित किया है। ये हैं – भोंड़े अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी, सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियाँ, सामाजिक जनवादी भटकाव, सामाजिक जनवादियों की छिछोरी शैली, मूल सामाजिक जनवादी प्रकृति के भोंड़े उत्पाद, राबोचेये देलो और राबोचाया मीस्ल की प्रारम्भिक अर्थवादी प्रवृत्ति की श्रेणी में आने वाले, फ़िल्मी वकील, क्रीडो मतावलम्बी, कायराना राजनीतिक पुछल्लावाद, आर्थिक अवसरवादियों, पराजयवादी मानसिकता, आँगन की मुर्गी, मजदूरों को कोसने वाले, आप जैसों की पैदा होने वाली ज़्यादा गँवारू भोंड़े क्रान्तिकारियों की धारा, बन्दरकुद्दी मारने वाले, कठमुल्ला किस्म के अनुकरणवादी, मूर्खता, नौबढ़ राजनीतिक नौदौलतियों, यान्त्रिक आधिभौतिकवादी पद्धति, मिथ्याभासी चेतना वाले, विसर्जनवादी, कूपमण्डूकी अनुभववादी, पूरी जनता के लिए “सर्ववर्ग समभाव”, कायर शेखचिल्ली, भोंड़ी अटकलबाज़ी, अनुष्ठानधर्मी, अनावश्यक विद्वता और दार्शनिकता दिखाना, अनर्गल प्रलाप, पण्डितारूपन, सार संग्रहवाद, पाण्डित्यवाद, आत्मधर्माभिमानिता, कार्यकर्ताओं को docile tool (आज्ञाधीन उपकरण) समझते हैं, नौकरशाह नेतृत्व, दोमुँहापन, तिलमिलाने, सच्चाइयों के प्रति ईमानदार रवैया न अपनाना...।

अब अगर आप यह चाहते हैं कि इन 'अलंकारों' से भड़ककर हम इनमें से हर एक का जवाब देने लग जायें और इस तरह से बहस भटक जाये, तो हम ऐसा नहीं करेंगे। हम इन्हें एक वाक्य में पूर्णतया रद्द करते हैं और आपको बताना चाहते हैं कि ऐसी कार्यशैली के बारे में लेनिन की क्या राय थी। “गाली-गलौज का राजनीतिक महत्त्व” नामक अपने लेख में लेनिन ने कहा है, “राजनीति में गाली-गलौज भरी भाषा अक्सर सिद्धान्तों के नितान्त अभाव पर, और ऐसी भाषा इस्तेमाल करने वाले के बांझपन, नपुंसकता, क्षोभकारी नपुंसकता पर पर्दा डालने का काम करती है।” (संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड 20, पृष्ठ 380, अं. संस्करण, 1964, अनुवाद हमारा)

मित्र, बहस आपने आमन्त्रित की है। बहस का विषय आपने तय किया है। बहस “बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप” पर हो रही है, मुझ पर नहीं। मैं सज्जन हूँ या दुर्जन, सभ्य-सुसंस्कृत हूँ या गँवार, विद्वान हूँ या अनपढ़, नवागन्तुक हूँ या पुराना खग्गाड़, नौबढ़ नौदौलतिया हूँ या पुराना धनी – इससे बहस पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। बहस में कोई अगर हिस्सेदारी करता है तो आपका फ़र्ज़ बनता है कि आप उसकी राय का ज़िम्मेदारीपूर्वक खण्डन करें और उसके प्रश्नों के उत्तर दें। यह आपका इन्क़लाबी दायित्व बनता है कि आप बहस को क्रान्तिकारियों के बीच होने वाली बहसों की तरह संचालित करें और विज्ञान की कसौटी पर सही-ग़लत का निर्णय होने दें। आइये, ज़िम्मेदार राजनीतिक लोगों की तरह बहस को मूल विषय पर केन्द्रित करें।

'मास पोलिटिकल पेपर' (Mass Political Paper)

यहाँ सवाल यह है कि क्या मास पोलिटिकल पेपर शब्द का इस्तेमाल सामाजिक जनवादियों (संशोधनवादियों) की छिछोरी शैली की अभिव्यक्ति है? क्या कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के शब्दकोश में ऐसा शब्द नहीं होना चाहिए, और इसे सामाजिक जनवाद (संशोधनवाद) की अभिव्यक्ति माना जाये?

बिगुल के सम्पादक इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते हैं।

हम इसका उत्तर 'नहीं' में देते हैं।

हमारे देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन में आम राजनीतिक अख़बार, जन राजनीतिक अख़बार, 'मास पोलिटिकल पेपर' प्रचलित शब्द रहे हैं। 'मास पोलिटिकल पेपर' शब्द और इससे जुड़ी अवधारणा न केवल प्रचलित रही है, बल्कि व्यापक जनता को क्रान्तिकारी राजनीति से लैस करने के उद्देश्य से निकाले जाने वाले अख़बारों के लिए एक सही शब्द भी है। इस शब्द के प्रयोग से बहुत सटीक ढंग से पत्र की अवधारणा अभिव्यक्त होती है।

अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में भी 'मास पोलिटिकल लिटरेचर', 'मास पोलिटिकल पेपर' प्रचलित और लोकप्रिय शब्द रहे हैं। वहाँ भी ये उस श्रेणी के साहित्य के लिए इस्तेमाल किये जाते रहे हैं जिसमें कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी व्यापक जनता को अपनी राजनीति से लैस करने का प्रयास करते रहे हैं। उदाहरण के लिए, "प्राव्दा" एक जन राजनीतिक अख़बार (Mass Political Newspaper) था।

क्या बिगुल को उसके स्वघोषित उद्देश्यों और ज़िम्मेदारियों के हिसाब से एक 'मास पोलिटिकल पेपर' कहना ग़लत है? बिगुल के जून-जुलाई, '99 अंक के पृष्ठ 2 पर रिवर्स में एक ब्लॉक छपा है जिसका शीर्षक है, "बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ।" इस ब्लॉक की पहली पंक्ति है – "बिगुल व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा।" (ज़ोर हमारा) जिस दिन बिगुल 'व्यापक मेहनतकश आबादी' के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षा और प्रचार को अपने उद्देश्य व ज़िम्मेदारी के बतौर गिनाना बन्द कर देगा, उस दिन हम बिगुल से वे अपेक्षाएँ रखना बन्द कर देंगे जो एक 'मास पोलिटिकल पेपर' से रखी जाती हैं। व्यापक मेहनतकश आबादी में बिगुल 'प्रोपेगैण्डा' कर रहा है या 'एजिटेशन' या दोनों ही नहीं कर रहा है, यह मूल्यांकन हम आगे करेंगे। परन्तु प्रोपेगैण्डा-एजिटेशन का शगूफ़ा छोड़कर आप बिगुल के स्वघोषित चरित्र (व्यापक मेहनतकश आबादी के लिए राजनीतिक पत्र) से इन्कार नहीं कर सकते।

इसी से जुड़ा हुआ सवाल यह है कि क्या एक 'मास पोलिटिकल पेपर' को जनता में सीधे-सीधे क्रान्तिकारी विचारधारा और राजनीति का प्रचार करना चाहिए या नहीं, हमने अपने 6 मई, 1999 के पत्र के दूसरे और तीसरे पैराग्राफ़ में ही यह बात स्पष्ट कर दी है। (बिगुल के जून-जुलाई अंक में प्रकाशित) इसके बावजूद बिगुल के सम्पादक हम पर आरोप लगाते हैं कि हम सीधे-सीधे क्रान्तिकारी विचारधारा और राजनीति के प्रचार के खिलाफ़ हैं। (देखें – बिगुल जून-जुलाई, 99, पृष्ठ 7, कॉलम 2, प्रथम पैरा)

अगर आप हमारे 6 मई '99 के पत्र को मनोगत न होकर वस्तुनिष्ठ होकर पढ़ते तो आप हमारे ऊपर ऐसा ग़लत आरोप न लगाते और ज़बरदस्ती हमारे मुँह में वे बातें ढूँढ़ने का प्रयास न करते जो हमने कही ही नहीं हैं। तब क्या माना जाये कि बिगुल के सम्पादक और हमारे बीच में जनता को राजनीति देने के सवाल पर कोई मतभेद नहीं है? मतभेद हैं। मतभेद यह नहीं है कि सीधे-सीधे राजनीति दी जाये या न दी जाये। मतभेद यह है कि 'मास पोलिटिकल पेपर' में राजनीति के नाम पर क्या दिया जाये और कैसे दिया जाये। यहीं पर सारी बहस केन्द्रित है। हमारी-आपकी बहस में यह बुनियादी सवाल है और इसे ही साफ़ करने के लिए हम यह पत्र लिख रहे हैं।

प्रोपेगैण्डा/एजिटेशन

6 मई 1999 के अपने पत्र में हमने आप से सीधा सा सवाल यह पूछा था कि क्या बिगुल भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का मुखपत्र है या यह एक 'मास पोलिटिकल पेपर' है? अपने पत्र के जिस हिस्से में हमने यह सवाल खड़ा किया है वहाँ हमारा आशय बिल्कुल साफ़ था (लिखित में) कि हम आप से पूछ रहे हैं कि बिगुल का पाठक-समूह कौन है? प्रश्न का सीधा जवाब देने और अपनी अवस्थिति स्पष्ट करके बहस को आगे बढ़ाने के बजाय, आपने 'प्रोपेगैण्डा/एजिटेशन', तरह-तरह के 'ऑर्गन' पर एक लम्बा व्याख्यान दे डाला। बहस बेमतलब के परिधिगत मुद्दों में ही उलझकर न रह जाये इसलिए इन बातों पर भी हम अपनी अवस्थिति साफ़ कर देते हैं।

आपकी तरह हमारा भी मानना है कि रोबोची, सेण्ट पीटर्बुर्गस्की राबोची लिस्तोक, ज़ार्या, इस्क्रा, व्यर्योद, प्रोलेतारी, सोशल डेमोक्रेट, ज्वेज़्दा, प्राव्दा, प्रोवेश्चचेन्या... संघर्ष लीग या बोलशेविकों के ऑर्गन थे। हमारी-आपकी बहस में ज़्यादा महत्वपूर्ण बात यह समझने की है कि इन विभिन्न पत्रिकाओं/अख़बारों का पाठक-समूह कौन था, इन पत्रों का कलेवर क्या था, इन पत्रों ने अपने दौर में आन्दोलन की किन ज़रूरतों को पूरा किया? और वह भी इसलिए ताकि हम यह सीख सकें कि हमें किस ज़रूरत को पूरा करने के लिए किस पाठक-समूह के लिए, कैसा अख़बार या कैसी पत्रिका निकालनी चाहिए।

ऐसा ही प्रोपेगैण्डा/एजिटेशन का मामला है। प्रोपेगैण्डा या एजिटेशन के मामले में भी बहस को बेमतलब के उलझाव से बचाने के लिए न तो हम आपकी मौलिक प्रस्थापनाओं (पृष्ठ 6, कॉलम 2) को आधार मानकर चलने को तैयार हैं और न ही अपनी कोई प्रस्थापनाएँ देकर बहस को संचालित करना चाहते हैं। हमारा आपसे अनुरोध है कि लेनिन की ही परिभाषा को आधार मानकर बहस की जाये।

“...जब मिसाल के लिए, बेकारी के प्रश्न पर ‘प्रचारक’ (propagandist) बोलता है, तो उसे आर्थिक संकटों के पूँजीवादी स्वरूप को समझाना चाहिए, उसे बताना चाहिए कि वर्तमान समाज में इस प्रकार के संकटों का आना क्यों अवश्यम्भावी है और इसलिए क्यों इस समाज को समाजवादी समाज में बदलना जरूरी है, आदि। सारांश यह कि प्रचारक (propagandist) को सुनने वालों के सामने ‘बहुत से विचार’ पेश करने चाहिए, इतने सारे विचार कि केवल (अपेक्षाकृत) थोड़े से लोग ही उन्हें एक अविभाज्य और सम्पूर्ण इकाई के रूप में समझ सकेंगे। परन्तु इसी प्रश्न पर जब कोई आन्दोलनकर्ता (agitator) बोलेगा, तो वह किसी ऐसी बात का उदाहरण देगा, जो सबसे अधिक ज्वलन्त हो और जिसे उसे सुनने वाले सबसे व्यापक रूप से जानते हों – मसलन, भूख से किसी बेरोजगार मजदूर के परिवार वालों की मौत, बढ़ती हुई गरीबी, आदि – और फिर इस मिसाल का इस्तेमाल करते हुए, जिससे सभी लोग अच्छी तरह परिचित हैं, वह ‘आम जनता’ के सामने बस एक विचार रखने की कोशिश करेगा, यानी यह कि यह अन्तरविरोध कितना बेतुका है कि एक तरफ तो दौलत और दूसरी तरफ गरीबी बढ़ती जा रही है। इस घोर अन्याय के विरुद्ध आन्दोलनकर्ता जनता में असन्तोष और गुस्सा पैदा करने की कोशिश करेगा तथा इस अन्तरविरोध का और पूर्ण स्पष्टीकरण करने का काम वह प्रचारक के लिए छोड़ देगा।

(क्या करें, पृष्ठ 91, प्रगति प्र., 1973, ज़ोर हमारा)

इस्क्रा और प्राव्दा

अपने 6 मई 99 के पत्र में हमने यह दलील दी थी कि आपके स्वघोषित उद्देश्य के हिसाब से बिगुल का स्वरूप प्राव्दा जैसा होना चाहिए न कि इस्क्रा जैसा। हमने यह भी कहा था कि लेनिन के जिस उद्धरण की मार्फत बिगुल के वर्तमान स्वरूप को सही ठहरा रहे हैं, वहाँ आप लेनिन की बातों का ग़लत इस्तेमाल कर रहे हैं क्योंकि लेनिन की वे बातें ‘इस्क्रा’ जैसे अख़बार पर लागू होती हैं और ‘प्राव्दा’ जैसे अख़बार पर लागू नहीं। ‘इस्क्रा’ और ‘प्राव्दा’ के उदाहरण लेकर हम आप को यह साफ़ करने की कोशिश कर रहे थे कि अलग-अलग पाठक समूहों के लिए अलग-अलग तरह के अख़बार निकाले जाते हैं। ‘इस्क्रा’ का पाठक समूह रूस के सामाजिक-जनवादी (आज के हिसाब से कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी) और वे उन्नत मजदूर थे जिन्हें लेनिन “मजदूर बौद्धिक” कहते हैं, जो अपनी नारकीय जीवन स्थितियों के बावजूद लगातार अध्ययन, अध्ययन और अध्ययन के काम में जुटे रहते हैं और खुद को सामाजिक-जनवादी (क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट) बना रहे हैं। जबकि ‘प्राव्दा’ का पाठक समूह औसत मजदूरों की व्यापक आबादी थी।

अपने जवाब में आप कहते हैं कि हम ग़लत ऐतिहासिक तथ्य और ग़लत दलीलें दे रहे हैं। आपका कहना है कि –

- ‘इस्क्रा’ और ‘प्राव्दा’ दोनों बोलशेविकों के एजिटेशनल ऑर्गन थे।

- ‘इस्क्रा’ की भाँति ‘प्राव्दा’ का ‘टारगेट रीडर ग्रुप’ भी वर्ग-सचेत अग्रणी मजदूर थे। ‘प्राव्दा’ औसत चेतना के मजदूरों के लिए नहीं निकाला जाता था।

- चूँकि 1912 में ऐसे वर्ग-सचेत अग्रणी मजदूरों की गिनती बहुत बढ़ गयी थी, इसलिए ‘प्राव्दा’ के पाठकों का दायरा भी बहुत बढ़ गया था? अन्यथा दोनों अख़बारों के कलेवर (शैली एवं अन्तर्वस्तु) में कोई बुनियादी अन्तर नहीं था, क्योंकि दोनों का ‘टारगेट रीडर ग्रुप’ एक ही था। आपका कहना है कि दोनों के कलेवर में जो थोड़ा-बहुत अन्तर था वह इसलिए था क्योंकि ‘प्राव्दा’ एक क़ानूनी दैनिक अख़बार था, जबकि ‘इस्क्रा’ एक ग़ैरक़ानूनी अख़बार था।

आपका जवाब पढ़ने के बाद हमने अपने तथ्यों का पुनर्निरीक्षण किया और हमने पाया कि आपकी बातें ग़लत हैं। हम अपनी जगह ठीक हैं और आप या तो सीधे-सीधे झूठी बातें बताकर या फिर अर्धसत्य कहकर बिगुल के पाठकों को गुमराह कर रहे हैं। कौन ग़लतबयानी कर रहा है और बिगुल के पाठकों को झाँसा दे रहा है, इसे साबित करने के लिए हमें सबूत के बतौर अनेक उद्धरण देने पड़ेंगे और इससे पैदा होने वाली असुविधा के लिए पाठक हमें माफ़ करेंगे।

आपका कहना है कि ‘प्राव्दा’ की तरह ‘इस्क्रा’ भी बोलशेविकों का ‘एजिटेशनल ऑर्गन’ था। आपका कहना है कि जब ‘इस्क्रा’ का प्रकाशन हो रहा था तब उन्नत स्तर की बहसों के लिए ‘ज़ार्या’ का प्रकाशन हो रहा था। आपकी बातें सत्य हैं, परन्तु अर्द्ध सत्य हैं।

‘इस्क्रा’ के काल में आप ‘ज़ार्या’ का जिक्र करके यह स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं कि रूस के सामाजिक-जनवादियों (कम्युनिस्टों) के बीच की उच्च स्तर की बातें ‘ज़ार्या’ में छपती थीं। यह सही है कि 1900 में ‘इस्क्रा’ और ‘ज़ार्या’ की स्थापना का निर्णय एक ही साथ लिया गया था और यह भी सही है कि उस वक़्त ‘इस्क्रा’ का स्वरूप मूलतः एजिटेशन माना गया था और ‘ज़ार्या’ का मूलतः प्रोपेगैण्डा। परन्तु सत्य इतना ही नहीं है। ‘इस्क्रा’ को किन्हें ‘एजिटेट’ करना है, इस बात पर रूस के सामाजिक-जनवादी बहुत स्पष्ट थे। ‘इस्क्रा’ के ‘टारगेट रीडर ग्रुप’ सामाजिक-जनवादी (कम्युनिस्ट) और वे उन्नत मजदूर थे जोकि “मजदूर बौद्धिक” थे और सामाजिक-जनवादी बन रहे थे। लेनिन के अनुसार इस उन्नत मजदूरों

की श्रेणी में वे मजदूर भी नहीं आते थे, जोकि समाजवाद की उत्कट इच्छा रखते हैं, मजदूर अध्ययन मण्डलों में भाग लेते हैं, सामाजिक-जनवादी साहित्य पढ़ते हैं और आन्दोलनात्मक प्रचार-कार्य में भाग लेते हैं। ये 'इस्क्रा' के पाठक तो बनते थे लेकिन वे उसे पूरी तरह समझ नहीं सकते थे। 'इस्क्रा' का पाठक समूह कहीं से भी 'व्यापक मेहनतकश आबादी' नहीं थी। 'व्यापक मेहनतकश आबादी' को एजिटेड करना कहीं से भी 'इस्क्रा' की मूल जिम्मेदारी नहीं थी।

शेष सत्य इतना ही नहीं है। सितम्बर 1900 के निर्णय के बावजूद कि प्रोपेगैण्डा (और उच्च स्तरीय बहसों) के लिए 'ज़ार्या' निकाली जायेगी, 'ज़ार्या' का प्रकाशन केवल अगस्त 1902 तक हो सका और अगस्त 1902 तक भी 'ज़ार्या' के केवल तीन अंक निकल पाये (ज़ार्या के अंक 2 और अंक 3 संयुक्तांक के बतौर दिसम्बर 1901 में निकले और प्रवेशांक अप्रैल 1901 में निकला था)। जबकि दिसम्बर 1900 से लेकर नवम्बर 1903 तक 'इस्क्रा' के 52 अंक निकले थे। यह वह दौर था जब पार्टी-गठन का काम पूरे जोर-शोर पर था (जुलाई-अगस्त 1903 में R.S.D.L.P. की दूसरी कांग्रेस सम्पन्न हुई)। यानी कि 'ज़ार्या' की स्थापना के निर्णय के बावजूद रूस के सामाजिक-जनवादियों के बीच की अधिकांश उच्च स्तरीय बहसों 'इस्क्रा' में हुईं। 'इस्क्रा' में ही रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी के कार्यक्रम का मसौदा छपा गया और 'इस्क्रा' में ही दूसरी कांग्रेस की तैयारी से सम्बन्धित लेख/दस्तावेज छापे गये।

यहाँ हम यह बात भी कह दें कि लेनिन आपकी तरह के "श्रेणी विभाजन प्रेमी" नहीं थे। वे चीजों को खानों में बाँटकर उससे किन्हीं राजनीतिक निष्कर्षों तक नहीं पहुँचते थे जैसेकि आप पहुँचते हैं कि चूँकि 'इस्क्रा' और 'प्राव्दा' दोनों एजिटेशनल अख़बार थे, अतः दोनों एक ही तरह के अख़बार थे। इसके विपरीत लेनिन चीजों को उनके वास्तविक चरित्र से तय करते थे। इसीलिए बाद में जब उन्होंने एक अखिल रूसी अख़बार की रूपरेखा "कहाँ से शुरू करें?" और "क्या करें?" में रखी तो उसे प्रचारक और आन्दोलनकर्ता दोनों के रूप में प्रस्तुत किया। यही नहीं लेनिन द्वारा लिखित तीसरे इण्टरनेशनल द्वारा पारित और आपके द्वारा प्रकाशित "कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा" की धारा 38 में साफ़ लिखा है कि अख़बार प्रचारक और आन्दोलनकर्ता दोनों का काम करेगा :

"कम्युनिस्ट अख़बार को... हमारा सर्वोत्तम आन्दोलनकर्ता (एजिटेटर) और सर्वहारा क्रान्ति का नेतृत्वकारी प्रचारक बनना चाहिए।" लेकिन यह आपकी 'द्वन्द्ववादी' पद्धति का नतीजा है कि आप चीजों को खानों में बाँट देते हैं और फिर उससे निष्कर्ष निकालने लगते हैं। लेकिन अपना यह 'द्वन्द्ववाद' कम से कम लेनिन के मत्थे तो मत मढ़िये।

'इस्क्रा' का कलेवर और भूमिका क्या थी इसके सम्बन्ध में हम रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोलशेविक) की स्वीकृत राय यहाँ उद्धृत कर रहे हैं :

"विभिन्न मार्क्सवादी संगठनों को एक ही पार्टी में मिलाने और जोड़ने के लिए, लेनिन ने इस्क्रा की स्थापना की योजना पेश की और उसे पूरा किया। क्रान्तिकारी मार्क्सवादियों का अखिल रूसी पैमाने का यह पहला अख़बार था।" (सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बो.) का इतिहास, कामगार प्रकाशन, पृष्ठ 29)

'इस्क्रा' ने बिखरे हुए सोशल डेमोक्रेट मण्डलों और गुटों को एक सूत्र में जोड़ा और दूसरी पार्टी कांग्रेस बुलाने के लिए रास्ता साफ़ किया।" (वही, पृष्ठ 60)

इससे स्पष्ट है कि इस्क्रा ने पार्टी-गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और यह काम उसने पार्टी कार्यकर्ताओं को इकट्ठा करके तथा उन्हें प्रशिक्षित कर अंजाम दिया। इसीलिए इसका 'टारगेट रीडर ग्रुप' पार्टी कार्यकर्ता और अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूर थे।

'इस्क्रा' को महज़ एजिटेशनल ऑर्गन कहकर 'प्राव्दा' की श्रेणी में रखने की कोशिश करना निहायत ग़लत है, क्योंकि 'इस्क्रा' ने उन सारे उच्च स्तरीय सैद्धान्तिक सवालों और बहसों को अपने पृष्ठों में जगह दी जिन्हें कि 'व्यापक मेहनतकश आबादी' को सम्बोधित अख़बार क़तई नहीं दे सकता है। यह बात तब और भी साफ़ हो जाती है जब हम 'प्राव्दा' के कलेवर और 1912 के काल में बोलशेविकों द्वारा निकाले जाने वाले अन्य पत्रों के पाठक-समूह पर गौर करें।

1912 में, 'प्राव्दा' के प्रकाशन के वक्त बोलशेविक 'सोशल डेमोक्रेट' और 'ज्वेज़्दा' नाम के पत्र निकालते थे। 'सोशल-डेमोक्रेट' उच्च स्तरीय सैद्धान्तिक बहसों के लिए पत्र था, जबकि 'ज्वेज़्दा' अग्रणी मजदूरों के लिए था। 'प्राव्दा' को व्यापक मजदूर आबादी की राजनीतिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए निकाला जाता था। 'प्राव्दा' के कलेवर को स्पष्ट करने के लिए हम स्तालिन को उद्धृत कर रहे हैं।

'प्राव्दा' की स्थापना...

"मध्य अप्रैल, 1912 की एक शाम को कॉमरेड पोलेतायेव के घर दूमा के दो सदस्य (पोक्रोवस्की और पोलेतायेव), दो लेखक (ओलमिन्स्की और बातुरिन) और केन्द्रीय कमेटी का एक सदस्य, मैं (मैं फरार होने के कारण उस समय पोलेतायेव के घर को अपना अड्डा बनाये हुए था क्योंकि उसे "संसदीय अभयदान" मिला हुआ था), प्राव्दा के मंच के बारे में सहमति पर

पहुँचे और समाचार पत्र के प्रथम अंक को संकलित किया। मुझे याद नहीं है कि इस सम्मेलन में **प्राव्दा** के दो बहुत घनिष्ठ सहयोगी देम्यान ब्येदनी और दानिलोव मौजूद थे या नहीं।

“**ज्वेज़्दा** द्वारा चलाये गये आन्दोलन (Agitation), मज़दूरों के व्यापक हिस्से की सहानुभूति, और मिलों तथा फ़ैक्टरियों में ‘**प्राव्दा**’ के लिए फ़ण्ड के व्यापक स्वैच्छिक संग्रह से समाचार पत्र का तकनीकी और वित्तीय पूर्वाधार पहले ही तैयार हो चुका था। सही बात तो यह है कि रूस के मज़दूर वर्ग के और सर्वोपरि पेत्रोग्राद के मज़दूर वर्ग के प्रयासों के परिणामस्वरूप ही **प्राव्दा** अस्तित्व में आया था। यदि ये प्रयास नहीं होते तो समाचारपत्र का अस्तित्व नहीं होता।

“**प्राव्दा** का स्वरूप स्पष्ट था। इसका लक्ष्य जन समुदाय के बीच ‘**ज्वेज़्दा**’ के कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाना था। **प्राव्दा** ने अपने प्रथम अंक में ही लिखा था : ‘कोई भी जो ‘**ज्वेज़्दा**’ को पढ़ता है और इसके लेखकों को जानता है, जो **प्राव्दा** के भी लेखक हैं, उसे **प्राव्दा** द्वारा अपनायी जाने वाली लाइन को समझने में दिक्कत नहीं होगी। **ज्वेज़्दा** और **प्राव्दा** के बीच अन्तर सिर्फ़ यह था कि दूसरा (यानी **प्राव्दा**), पहले (**ज्वेज़्दा**) के विपरीत, **अपने को आगे बढ़े हुए मज़दूरों को नहीं, बल्कि मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदाय को सम्बोधित करता था। प्राव्दा का कार्य था कि रूसी मज़दूर वर्ग के व्यापक हिस्से को, जो नये संघर्ष के लिए तो जागृत हो गया था लेकिन राजनीतिक तौर पर अभी भी पिछड़ा हुआ था, पार्टी के परचम के इर्द-गिर्द गोलबन्द करने में आगे बढ़े हुए मज़दूरों की मदद करे।** सिर्फ़ इसी वजह से **प्राव्दा** ने उस समय अपने लिए एक उद्देश्य यह तय किया था कि मज़दूरों के बीच से लेखक तैयार करे और उन्हें समाचार पत्र के संचालन में आकर्षित करे।

“अपने पहले ही अंक में **प्राव्दा** ने लिखा : ‘हम चाहेंगे कि मज़दूर सिर्फ़ सहानुभूति रखने तक ही अपने को सीमित न रखें, बल्कि हमारे अख़बार को चलाने में सक्रिय भूमिका अदा करें। मज़दूर यह नहीं कहें कि वे लिखने के आदी नहीं हैं।’ मज़दूर वर्ग के लेखक तैयारशुदा आसमान से नहीं टपकते। उनको साहित्यिक गतिविधियों के दौरान क़दम-ब-क़दम ही प्रशिक्षित किया जा सकता है। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि काम को साहस के साथ शुरू किया जाये। आप एक या दो बार लड़खड़ा सकते हैं, लेकिन अन्त में आप लिखना सीख लेंगे।’... (जे. वी. स्तालिन, **प्राव्दा** की दसवीं सालगिरह (संस्मरण) से, जे. स्तालिन, वर्क्स, खण्ड 5, पृष्ठ सं. 132-34, अनुवाद और ज़ोर हमारा)

दोस्तो, स्तालिन की बात पर गौर कीजिये। **प्राव्दा** व्यापक जनसमूह को अपना ‘टारगेट रीडर ग्रुप’ मानता था और उसके राजनीतिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए लिखता था।

क्या तब भी **प्राव्दा** को ‘मास पोलिटिकल पेपर’ मानना उचित होगा? आइये इसे समझने के लिए देखा जाये कि 1938 में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी क्या कहती है। यह दस्तावेज़ इसलिए भी ज़रूरी है कि ताकि हमारे बीच यह बात साफ़ रहे कि हमें अपने आन्दोलन के ‘मास पोलिटिकल पेपरों’ को कैसा बनाने की कोशिश करनी चाहिए।

“बोल्शेविक अख़बार ‘**प्राव्दा**’...”

“**अपने संगठनों को मज़बूत करने और आम जनता के बीच अपना असर फैलाने के लिए**, बोल्शेविक पार्टी ने जो एक शक्तिशाली हथियार इस्तेमाल किया, वह दैनिक बोल्शेविक अख़बार **प्राव्दा** (सत्य) था। यह पेत्रोग्राद से प्रकाशित होता था। लेनिन के निर्देश के अनुसार, स्तालिन, ओलमिन्स्की और पोलेतायेव की पहलक़दमी पर इसकी स्थापना की गयी। **प्राव्दा आम मज़दूर जनता का अख़बार था** जिसकी स्थापना क्रान्तिकारी आन्दोलन के नये उभार के साथ-साथ हुई थी। इसका पहला अंक 22 अप्रैल (नयी शैली 5 मई) 1912 को निकला था। मज़दूरों के लिए यह दरअसल उत्सव का दिन था। **प्राव्दा** के प्रकाशन के सम्मान में यह फ़ैसला लिया गया कि आगे से 5 मई को मज़दूर प्रेस-दिवस मनाया जायेगा।

“**प्राव्दा** के निकलने के पहले ही, बोल्शेविकों के पास **ज्वेज़्दा** नाम का साप्ताहिक अख़बार था। यह **आगे बढ़े हुए मज़दूरों** के लिए था। लेना काण्ड के समय, **ज्वेज़्दा** ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसने लेनिन और स्तालिन के लिखे हुए कई तीखे राजनीतिक लेख छापे, जिन्होंने संघर्ष के लिए मज़दूर वर्ग को गोलबन्द किया। लेकिन उठते हुए क्रान्तिकारी ज्वार को देखते हुए बोल्शेविक पार्टी की ज़रूरतें साप्ताहिक पत्र से न पूरी होती थीं। मज़दूरों के व्यापकतम हिस्सों के लिए एक दैनिक जन राजनीतिक समाचार पत्र (Mass Political Newspaper) ज़रूरी था। ‘**प्राव्दा**’ ऐसा ही अख़बार था।...

“इस दौर में **प्राव्दा** की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण थी। **आम मज़दूर जनता** में उसने बोल्शेविज़्म के लिए समर्थन हासिल किया।... **प्राव्दा** का औसत वितरण प्रतिदिन चालीस हजार प्रतियों का था, जबकि मॅशेविक दैनिक लूच (किरण) की पन्द्रह हजार या सोलह हजार से ज़्यादा प्रतियाँ नहीं वितरित होती थीं।

“मज़दूर **प्राव्दा** को अपना ही अख़बार समझते थे। उन्हें इस पर बहुत भरोसा था और इसके आह्वान का वे तुरन्त जवाब देते थे। प्रत्येक प्रति हाथों-हाथ घूमते हुए बहुत से पाठकों द्वारा पढ़ी जाती थी। इसने (**प्राव्दा** ने) उनकी वर्ग-चेतना का निर्माण किया, उन्हें शिक्षित किया, उन्हें संगठित किया और संघर्ष के लिए उनका आह्वान किया।

“**प्राव्दा** किन चीज़ों के बारे में लिखता था?

“हर अंक में मजदूरों के दर्जनों खत छपते थे जिनमें वे अपनी जिन्दगी बयान करते थे, पूँजीपति मैनेजर और फ़ोरमैन जिस बुरी तरह उनका शोषण करते थे और तरह-तरह से उन्हें सताते और बेइज्जत करते थे, उसे वे बयान करते थे। इन पत्रों में पूँजीवादी स्थितियों की तीखी और जोरदार आलोचना होती थी। **प्राव्दा** अक्सर बेकार और भूखे मरते हुए मजदूरों की आत्महत्या की रिपोर्टें छापता था। ये वे मजदूर थे जो फिर काम पाने की आशा छोड़ बैठे थे।

“**प्राव्दा** विभिन्न कारखानों और उद्योग-धन्धों के मजदूरों की माँगों और ज़रूरतों के बारे में लिखता था। वह बतलाता था कि मजदूर अपनी माँगों के लिए किस तरह लड़ रहे हैं। लगभग हर अंक में विभिन्न कारखानों में होने वाली हड़तालों की रिपोर्टें छपती थीं। बड़ी और लम्बी चलने वाली हड़तालों में हड़तालियों की मदद करने के लिए, अख़बार दूसरे कारखानों और दूसरे उद्योग-धन्धों के मजदूरों में चन्दे इकट्ठे करने में मदद देता था। कभी-कभी हड़ताल फ़ण्ड में लाखों रूबल इकट्ठे हो जाते थे। उन दिनों के लिए, जबकि ज़्यादातर मजदूरों को हर रोज़ 70 या 80 कोपेक से ज़्यादा न मिलता था, तब ये रक़मों बहुत भारी थीं। इससे मजदूरों के बीच सर्वहारा एकजुटता की भावना और तमाम मजदूरों के हितों की एकता की चेतना मज़बूत हुई।

“मजदूर हर राजनीतिक घटना पर हर जीत या हार पर **प्राव्दा** को चिट्ठियाँ, अभिनन्दन या विरोध इत्यादि भेजकर प्रतिक्रिया देते थे। **प्राव्दा** अपने लेखों में सुसंगत बोल्शेविक दृष्टिकोण से मजदूर आन्दोलन के कार्यभारों की चर्चा करता था। क़ानूनी तौर से प्रकाशित अख़बार ज़ारशाही हो उखाड़ फेंकने का खुले तौर पर आह्वान नहीं कर सकता था। उसे इशारे करने पड़ते थे, जिन्हें वर्ग-सचेत मजदूर बहुत अच्छी तरह समझ लेते थे, और जिन्हें वे जन-समुदाय को अच्छी तरह समझाते थे। उदाहरण के लिए, जब **प्राव्दा** ने “वर्ष 5 की पूरी और बिना कटी-छँटी माँगों” के बारे में लिखा तो मजदूर समझ गये कि इसका मतलब बोल्शेविकों के क्रान्तिकारी नारे हैं – यानी ज़ारशाही का खात्मा, जनवादी गणतन्त्र, भू-जागीरों की ज़बती और काम के आठ घण्टे।...

“**प्राव्दा** मजदूरों की जिन्दगी के बारे में, उनकी हड़तालों और प्रदर्शनों के बारे में ही नहीं लिखता था बल्कि नियमित तौर पर किसानों की जिन्दगी, उनको त्रस्त करने वाले अकालों और सामन्ती ज़मींदारों द्वारा उनके शोषण का भी वर्णन करता था। यह बतलाता था कि किस तरह स्तोलीपिन ‘सुधार’ के परिणामस्वरूप कुलकों ने किसानों से उनकी सबसे अच्छी ज़मीन छीन ली है। **प्राव्दा** ने वर्ग-चेतन मजदूरों का ध्यान ग्रामीण इलाकों में फैले व्यापक और घोर असन्तोष की तरफ़ खींचा। इसने सर्वहारा वर्ग को यह सिखलाया कि 1905 की क्रान्ति के उद्देश्य अभी हासिल नहीं हुए और एक नयी क्रान्ति होने वाली है। इसने सिखलाया कि इस दूसरी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग को जनता के सच्चे नेता और पथ-प्रदर्शक का काम करना होगा, और कि इस क्रान्ति में उसे क्रान्तिकारी किसान समुदाय जैसा ताक़तवर सहयोगी मिलेगा।...

“**प्राव्दा** के मजदूर संवाददाताओं की तादाद बहुत बढ़ी थी। एक साल में ही इसने मजदूरों के ग्यारह हज़ार से अधिक खत छापे। लेकिन, **प्राव्दा** मजदूर वर्ग के जनसमुदाय से सिर्फ़ खतों के ज़रिये सम्पर्क कायम नहीं रखता था। प्रत्येक दिन कारखानों से बहुत सारे मजदूर सम्पादकीय दफ़्तर में आते थे। **प्राव्दा** के सम्पादकीय कार्यालय में पार्टी के संगठनात्मक कार्य का एक बड़ा हिस्सा केन्द्रित था। यहाँ पर पार्टी केन्द्रों के प्रतिनिधियों की मीटिंगों का इन्तज़ाम किया जाता था। यहाँ पर मिलों और कारखानों में पार्टी के काम की रिपोर्टें ली जाती थीं। यहीं से पार्टी की पेत्रोग्राद कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के निर्देश बाहर भेजे जाते थे।” (सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास (बोल्शेविक), संक्षिप्त कोर्स, (पृ. 149-153) फ़ारेन लेंगवेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, 1952 का सीधा पुनर्मुद्रित अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद और शब्दों पर जोर हमारा)

इस लम्बे उद्धरण को देना हमारी मजबूरी इसलिए है क्योंकि **बिगुल** के सम्पादक इस बात से सीधे इन्कार करते हैं कि ‘**प्राव्दा**’ औसत मजदूरों को सम्बोधित था। **बिगुल** के सम्पादक **बिगुल** के पाठकों को ग़लत तथ्य देते हैं कि ‘**इस्क्रा**’ की तरह ‘**प्राव्दा**’ का ‘टारगेट रीडर ग्रुप’ अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूर ही थे।

इन लम्बे उद्धरणों द्वारा हमने यह स्थापित करने की कोशिश की है कि ‘**इस्क्रा**’ और ‘**प्राव्दा**’ में भिन्नता मात्र दौर की नहीं है या इस बात की नहीं है कि एक क़ानूनी दैनिक था तथा दूसरा ग़ैरक़ानूनी। इससे कहीं ज़्यादा बड़ी बात यह है कि दोनों अख़बारों के टारगेट रीडर ग्रुप अलग-अलग थे, इसलिए दोनों अख़बारों का कलेवर (अन्तर्वस्तु और शैली) एक-दूसरे से बहुत भिन्न था।

यहीं पर हम पाठकों के सामने यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि न केवल आप उद्धरणों के ग़लत अर्थ निकालते हैं बल्कि उन्हें तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करते हैं। आपने अपने लेख में लिखा है – “जिसे आप ‘मास पोलिटिकल पेपर’ कह रहे हैं और यह मानक पेश कर रहे हैं कि लेनिन की बातें **इस्क्रा** पर तो लागू होती हैं पर **प्राव्दा** पर नहीं, उस पत्र ने (स्तालिन कालीन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) के इतिहास के अनुसार) चौथी दूमा के चुनाव के पूर्व आगे बढ़े हुए मजदूरों को संगठित किया, सर्वहारा वर्ग की आम कार्रवाई का संगठन किया और मजदूर वर्ग की आम क्रान्तिकारी पार्टी के रूप में बोल्शेविक पार्टी को ढालने के लिए **प्राव्दा** की कार्यनीति ने राजनीतिक रूप से सक्रिय मजदूरों के अस्सी फ़ीसदी का समर्थन हासिल किया।

हम नहीं जानते कि उपरोक्त बातें आपने 'इतिहास' के किस हिस्से से ली हैं। परन्तु आपके द्वारा ही बाद में सन्दर्भित पृष्ठ 181 पर हमें यह पढ़ने को मिलता है :

“मज़दूर वर्ग की आम क्रान्तिकारी पार्टी बनाने के लिए ढाई साल तक विसर्जनवादियों के खिलाफ़ डटकर मोर्चा लेने के फलस्वरूप 1914 की गर्मियों तक बोल्शेविक पार्टी के लिए **प्राव्दा की कार्यनीति** के लिए बोल्शेविक रूस के राजनीतिक तौर से सक्रिय मज़दूरों में से 80 फ़ीसदी का समर्थन हासिल करने में सफल हुए।”

हम आपसे पूछना चाहेंगे – क्या यह सीधे-सीधे तोड़-मरोड़ नहीं है। “**प्राव्दा की कार्यनीति के लिए**” कैसे “**प्राव्दा की कार्यनीति ने**” में बदल जाता है? परिणाम कैसे कारण में बदल जाता है? 'इतिहास' के उपरोक्त अंश में कर्ता “बोल्शेविक” (और कर्म 'विसर्जनवादियों के खिलाफ़ डटकर मोर्चा लेना') है जबकि **बिगुल** के सम्पादक महोदय की कृपा से कर्ता **प्राव्दा** हो जाता है। यह किसी भी तरह से अपनी बात साबित करने का अतिरिक्त उत्साह है या 'पोलर एक्सिस दोष'?

इसी तोड़-मरोड़ का अगला उदाहरण तुरन्त बाद की लाइनों में अभिव्यक्त होता है। आपने लिखा है :

“जिसे आप 'मास पोलिटिकल पेपर' कहकर **इस्क्रा** से अलग प्रकृति का बताने की कोशिश कर रहे हैं वह पत्र 'पार्टी सिद्धान्त' के लिए, आम मज़दूर वर्ग की **क्रान्तिकारी पार्टी बनाने के लिए संघर्ष में...** बीचोबीच में था। '**प्राव्दा**' ने **बोल्शेविक पार्टी के गैरक़ानूनी केन्द्र के चारों तरफ़** मौजूदा क़ानूनी संगठनों को इकट्ठा किया और निश्चित उद्देश्य की तरफ़ मज़दूर आन्दोलन का संचालन किया – क्रान्ति की तैयारी के लिए।” (सो. सं. की क. पा. (बोल्शेविक) का इतिहास, पृ. 181)

यहाँ आपकी चालाकी देखने लायक है। यह दो स्तरों पर एक ही तरह से की गयी है। पहली तो यह कि आपने अपनी ओर से कुछ शब्दों पर ज़ोर दे दिया है और यह बताये बिना कि यह ज़ोर आपका है जिससे पाठक को यह लगे कि ज़ोर तो मूल पाठ में ही है। इससे आपकी बात और पुख्ता साबित होने लगती है। क्या इसे सामान्य “चूक” का मामला मान लिया जाये (वैसे हमें मानना तो नहीं चाहिए, तब जब आप अपने आप को इतना भारी विद्वान समझते हों कि दूसरों को पढ़ने की सीख देते फिरते हों)? लेकिन यह चूक नहीं है। यह सोची-समझी चाल है। यहीं दूसरी बात है – उन शब्दों को जस का तस रहने दिया गया है जो वास्तव में वर्तमान बहस में कुछ रोशनी डाल सकते हैं। पहले वाक्य में 'आम मज़दूर वर्ग' शब्द आया है जिसे आपने चुपचाप निकल जाने दिया। क्यों? इस पर ज़ोर क्यों नहीं दिया? क्या इसलिए कि यह आपकी धारणा को खण्डित करता है? इसी तरह दूसरे वाक्य में आने वाले जिन शब्दों पर ज़ोर दिया है उनसे ज़्यादा महत्वपूर्ण वे शब्द हैं जिन पर आपने ज़ोर नहीं दिया और वे हैं, “मौजूदा क़ानूनी संगठनों को इकट्ठा किया”। '**प्राव्दा**' ने यही काम किया और यही उसका महती योगदान था। 'इतिहास' में उपरोक्त अध्याय के अन्त में दिये गये सारांश में ठीक इसी बात को फिर दूसरे शब्दों में दोहराया गया है।

लेकिन आप यह नहीं करते। क्यों? इसलिए कि यह आपकी **इस्क्रा** व **प्राव्दा** की समानता की पूरी धारणा को खण्डित कर देता है। इसलिए आप यह नहीं देखते या देखना नहीं चाहते कि **इस्क्रा** ने एक **गैरक़ानूनी पार्टी केन्द्र का गठन किया** और **प्राव्दा** ने इस गैरक़ानूनी पार्टी केन्द्र के चारों तरफ़ **क़ानूनी संगठनों को इकट्ठा किया**। यह बहुत बड़ा फ़र्क़ है। इसलिए **इस्क्रा** ने **पार्टी क़तारों और अग्रणी वर्ग-सचेत मज़दूरों** को सम्बोधित किया जबकि **प्राव्दा** ने **आम मज़दूर जनता को**।

लेकिन किसी भी तरह से अपनी बात को सही साबित करने वाले आप जैसे “बहादुर तीसमार ख़ाँ” (“कायर शेखचिल्ली” का हमें यही विपरीत सूझा, वैसे हमें आशा है कि आप जैसे महापण्डित इस मामले में भी हमारा मार्गदर्शन करेंगे) से और क्या उम्मीद की जा सकती है?

क्या 1899 से 1904 का काल रूसी मज़दूर आन्दोलन में फूट, विसर्जन और दुलमुलपन का काल था अथवा मज़दूर आन्दोलन के आगे बढ़ने और विकसित होने का काल था?

बिगुल के सम्पादक हम पर आरोप लगाते हैं कि हम 1899 के रूसी मज़दूर आन्दोलन का ज़रूरत से ज़्यादा उत्साही और अतिरिजित खाका खींचते हैं, कि हम ऐतिहासिक तथ्यों के साथ प्रायः बलात्कार करते हैं और नये तथ्यों का आविष्कार करते हैं, और इतिहास का विद्वेषीकरण करते हैं।

हमने अपने मई, 99 के पत्र में कहा था कि 1899 के रूसी मज़दूर आन्दोलन की ज़रूरतें और 1999 के हिन्दुस्तानी मज़दूर आन्दोलन की ज़रूरतों में बहुत बड़ा अन्तर है। क्योंकि 1899 में रूसी मज़दूर आन्दोलन आगे बढ़ रहा था, जबकि 1999 का हिन्दुस्तानी मज़दूर आन्दोलन पीछे हट रहा है। ऐसे में जड़सूत्रवादियों की तरह 1899-1904 के रूसी दौर की व्यावहारिक बातों को (उसूली बातों को नहीं) दोहराते रहना ग़लत है। हमने आगे यह लिखा था कि क्रान्तिकारियों को स्थान-काल का भेद ठीक से समझना चाहिए और ज़माने की ज़रूरतों के हिसाब से काम करना चाहिए। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए हमने लेनिन को उद्धृत किया था ताकि यह साफ़ रहे कि क्रान्तिकारी प्रतिकूल स्थितियों में मज़दूरों को ककहरा सिखाने, उनमें सांस्कृतिक कार्य... करने की हद तक भी जा सकते हैं।

इतिहास की हमारी समझ ठीक है। इतिहास के बारे में बिगुल के सम्पादक झूठे तथ्य पेश कर रहे हैं। सच्चाई को समझने और ठीक अवस्थिति पर पहुँचने के लिए आइये देखें, लेनिन क्या कहते हैं। चलिये लेनिन की पुस्तक 'क्या करें' के उसी अन्तिम अध्याय को देखा जाये, जिसका हवाला बिगुल के सम्पादक अपने अखबार के पृष्ठ 8 के पहले कॉलम के पहले पैरा में देते हैं। लेनिन लिखते हैं, "रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन" को साफ़-साफ़ तीन कालों में बाँटा जा सकता है।

दो पैरा बाद लेनिन लिखते हैं – "तीसरे काल की तैयारी, जैसा हम देख चुके हैं, 1897 में हुई थी और 1898 में उसने निश्चित रूप से दूसरे काल का स्थान ले लिया था (1898-?)। यह फूट, विसर्जन और दुलमुलपन का काल था। जब आदमी लड़कपन पार करके जवानी में प्रवेश करने को होता है, तो उसकी आवाज़ फट जाती है। इसी प्रकार इस काल में रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की आवाज़ भी फटने लगी और उसमें एक झूठा स्वर सुनायी देने लगा। एक ओर तो स्त्रूवे और प्रोकोपोविच, बुल्गाकोव और बेरदियायेव जैसे महानुभावों की रचनाओं में, और दूसरी ओर व.इ. और र.म., बो. ऋचेवस्की और मार्तीनोव जैसे लोगों की रचनाओं में। परन्तु केवल नेतागण ही थे, जो इधर-उधर अलग-थलग भटकते फिरते थे और वापस चले जाते थे, खुद आन्दोलन तो प्रचण्ड गति से बढ़ता और विकास करता गया। सर्वहारा संघर्ष मज़दूरों के नये हिस्सों तक पहुँचा, पूरे रूस में फैल गया और इसके साथ-साथ उसने अप्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों में और जनता के दूसरे हिस्सों में भी जनवादी भावना जगायी। परन्तु नेताओं की चेतना स्वयंस्फूर्त उभार के विस्तार और वेग के अनुरूप न बढ़ पायी..." (लेनिन, क्या करें, शब्दों पर जोर हमारा है)

मित्र, आपकी निकटदृष्टि ठीक है, आपकी दूरदृष्टि ठीक है, पोलर-एक्सिस भी ठीक है, आप्टिक-नर्व भी ठीक होनी चाहिए। हमारा खयाल है कि तब रोग आपके मस्तिष्क में है। लेनिन साफ़ लिखते हैं कि 'खुद आन्दोलन तो प्रचण्ड गति से बढ़ता और विकास करता गया...। फिर आप बिगुल के पाठकों को लेनिन की बात तोड़-मरोड़कर क्यों बता रहे हैं? क्यों आप सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की जगह रूसी मज़दूर आन्दोलन लिख देते हैं? जबकि आप अच्छी तरह जानते हैं कि दोनों धाराएँ एक-दूसरे से अलग थीं और उन दिनों ये दो अलग-अलग धाराएँ एक-दूसरे में मिल रही थीं। लेनिन की बात बहुत साफ़ है कि रूस का सामाजिक-जनवादी आन्दोलन 1898-1904 के वर्षों में फूट, विसर्जन और दुलमुलपन का शिकार था और ये प्रवृत्तियाँ भी आन्दोलन के नेताओं तक सीमित थीं, जबकि रूसी मज़दूर आन्दोलन में उभार था, वह वेग के साथ आगे बढ़ रहा था और विस्तृत हो रहा था।

आपने हमसे जानना चाहा है कि हमने रूसी क्रान्ति के इतिहास की कौन सी पुस्तक पढ़ी है जिसमें 1898 से 1904 तक के दौर को मज़दूर आन्दोलन के आगे बढ़ने का काल बताया गया है?

तो साथी, इस सवाल का जवाब यह है कि हमने लेनिन को पढ़ा है और बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी द्वारा प्रमाणित इतिहास पढ़ा है। हमारी आपसे गुजारिश है कि आप भी ऐसा ही करें। 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास' के दूसरे अध्याय में पहले भाग (Section) का शीर्षक है "1901-1904 में रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन में उठान"। इस भाग में कुल चार पृष्ठ हैं। ज्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। आप इन्हें ध्यान से पढ़ें और समझने का प्रयास करें। आपकी तो निकट दृष्टि अव्वल है, दूर दृष्टि के माशा-अल्ला क्या कहने! ऐसे में आपको ज्यादा जोर नहीं लगाना पड़ेगा।

अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की यह अवस्थिति निर्विवाद है कि 1898 से 1904 का काल रूसी मज़दूर आन्दोलन के आगे बढ़ने का काल है। या तो दुनिया के कम्युनिस्ट झूठ बोल रहे हैं या फिर आप बिगुल के पाठकों को झूँसा दे रहे हैं। हमारा कहना है कि दूसरी वाली बात सही है।

क्या राजनीति देते समय अखबार को पाठक-समूह की चेतना का खयाल रखना चाहिए?

हमारा मत है कि निश्चित तौर पर रखना चाहिए।

हमारे-आपके बीच में यह बहस ही नहीं है कि राजनीति दी जाये या न दी जाये। और न ही यह बहस है कि क्रान्ति की राजनीति सीधे-सीधे दी जाये या न दी जाये।

हमारे-आपके बीच यह भी बहस नहीं है कि क्रान्ति को समर्पित अखबार अपने पाठकों का राजनीतिक शिक्षक होता है, कि अखबार का काम यह नहीं होता है कि वह अपने पाठकों को वही बातें बताये जिन्हें वे पहले से जानते हों, कि क्रान्ति को समर्पित किसी अखबार का काम होता है, अपने पाठकों की राजनीतिक चेतना को ऊपर उठाना।

परन्तु इतनी सहमति के बावजूद हम बिगुल के सम्पादक एवं लेखकों के आलोचक हैं। क्योंकि हमारा मत है कि बिगुल अपने ही स्वघोषित उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा है।

बिगुल की समस्या यह है कि एक ओर तो बिगुल अपना 'टारगेट रीडर ग्रुप' व्यापक मेहनतकश आबादी को मानता है। दूसरी ओर अपने सम्पादकीय या अपने जवाब में बिगुल के सम्पादक, अखबार का 'टारगेट रीडर ग्रुप' अग्रणी वर्ग-सचेत

मजदूरों को परिभाषित करते हैं। यह एक विसंगतिपूर्ण अवस्थिति है।

जब कोई **व्यापक मेहनतकश आबादी** की बात करता है तो उसका एक ही अर्थ निकलता है – संगठित सर्वहारा, असंगठित सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा (शहरी तथा ग्रामीण), गरीब व मँझोले किसान। ‘व्यापक मेहनतकश आबादी’ में इनके सभी संस्तर – उन्नत, मध्यम तथा पिछड़े – आते हैं। औसत तो निश्चित तौर पर आते हैं।

जब कोई ‘वर्ग-सचेत मजदूरों’ की बात कर रहा होता है तब वह एक ऐसे मजदूर की बात कर रहा होता है जिसे कम से कम अपने वर्ग का बोध होता है, समाज के अन्य वर्गों के साथ अपने वर्ग के वर्तमान रिश्तों की समझ होती है, जिसे यह बात साफ़ समझ में आती है कि उसके वर्ग की मुक्ति बिना क्रान्ति के नहीं हो सकती है, और जो इस मिशन की पूर्ति के लिए अपने अन्य मजदूर साथियों को तैयार करने के लिए कुछ तो सक्रिय होता ही है। इससे कम चेतना का मजदूर किसी भी हालत में वर्ग-सचेत मजदूर नहीं माना जा सकता है।

‘व्यापक मेहनतकश आबादी’ में सामान्य तौर पर अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों की गिनती बहुत कम होती है। मजदूर आन्दोलन की सुप्त अवस्थाओं में विशेष तौर पर, अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूर कम गिनती में पाये जाते हैं।

‘व्यापक मेहनतकश आबादी’ की चेतना और ‘अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों’ की चेतना में अच्छा-खासा अन्तर होता है। क्रान्ति को समर्पित किसी अख़बार को निश्चित तौर पर अपना पाठक-समूह तय करना होगा। अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह अपने पाठकों का राजनीतिक शिक्षक नहीं बन पायेगा। ऊहापोह की स्थिति में होता यह है कि वह अपने उन्नत पाठकों को कुछ नया और सार्थक नहीं दे पाता है और निम्न स्तर के पाठकों के लिए उसकी बातें बोधगम्य नहीं होती हैं। कुल मिलाकर वह अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा होता है, वह ‘ऑफ़ टारगेट’ होकर रह जाता है। पाठकों के लिए सार-हीन होकर रह जाता है।

बिगुल के सम्पादक हिरावलपन्थ को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। आपकी मौलिक प्रस्थापनाओं पर न जाकर हम जनता के बीच काम करने के बारे में लेनिन की बात सुनेंगे :

“यहाँ पर हम फिर देखते हैं कि ‘वामपन्थी’ लोग तर्क करना नहीं जानते, वे **वर्ग** की पार्टी की तरह, **जनसाधारण** की पार्टी की तरह काम करना नहीं जानते। आपको जनसाधारण के स्तर पर, वर्ग के पिछड़े हुए भाग के स्तर पर नहीं पहुँच जाना चाहिए। यह बात निर्विवाद है। आपको जनता को कटु सत्य बताना चाहिए। आपको उसके बुर्जुआ जनवादी और संसदीय पूर्वाग्रहों को पूर्वाग्रह ही कहना चाहिए। परन्तु साथ ही आपको यह बात भी **बड़ी गम्भीरता के साथ** देखनी चाहिए कि पूरे वर्ग की (केवल उसके कम्युनिस्ट हिरावल की नहीं) और सारे मेहनतकश **जनसाधारण** की (केवल उसके आगे बढ़े हुए प्रतिनिधियों की नहीं) चेतना और तैयारी की **वास्तविक** हालत क्या है।” (लेनिन, वामपन्थी कम्युनिज़्म : एक बचकाना मर्ज, दस खण्डीय, हिन्दी संस्करण, खण्ड 9, पृ. 295-96, ज़ोर मूल में)

जनता के बीच काम करने के लिए लेनिन द्वारा सुझायी गयी यह पद्धति ही सही पद्धति है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जनसाधारण के बीच काम करते हुए हमें उसकी चेतना और तैयारी की **वास्तविक हालत का गम्भीरतापूर्वक ध्यान रखना चाहिए**। जो कोई भी यह नहीं करता और केवल हिरावल को देखकर अपनी नीति तथा दिशा तय करता है और तदनु रूप व्यवहार करता है, हमारी नज़र में वह हिरावलपन्थी है। उसे हिरावलपन्थी कहा जायेगा भले ही वह रोज़मर्रा के संघर्ष करता हो या न करता हो, जनसंगठन बनाने का प्रयास करता हो या न करता हो, वह केवल प्रचार-कार्य करता हो या “व्यावहारिक” कार्य भी।

हिरावलपन्थी अख़बार एक ऐसा अख़बार होता है जो या तो अपने पाठक-समूह को ठीक से चिह्नित न करता हो या अगर वह अपने पाठक-समूह को ठीक से चिह्नित कर भी ले, तो अपने पाठक-समूह की चेतना का वस्तुनिष्ठ आकलन कर भी ले तो उस चेतना को मद्देनज़र रखते हुए राजनीति देने का काम न करे। जो अपने पन्नों में ऐसे शब्द इस्तेमाल करे जो पाठकों की समझ में न आते हों, ऐसी बातें लिखे जो उसके पाठकों की समझ से ऊपर हों, जिसमें ऐसे लेख न छपते हों जिनसे उसके पाठकों को अपने राजनीतिक कार्यों को आगे बढ़ाने में मदद मिलती हो। यानी कि एक ऐसा अख़बार जिसकी शैली और अन्तर्वस्तु, उसके पाठकों के वास्तविक जीवन व चेतना से बेमेल हो, और जो उन्हें राजनीतिक तौर पर आगे बढ़ाने के बजाय उनसे किताबी बातें करता हो।

हमारा निश्चित मत है कि क्रान्ति को समर्पित किसी अख़बार को अपने पाठक-समूह की चेतना का वस्तुनिष्ठ आकलन करना चाहिए, उस चेतना को परिभाषित करने का प्रयास करना चाहिए। उस चेतना को मद्देनज़र रखते हुए ही राजनीति देने का काम करना चाहिए। अख़बार की भाषा, प्रस्तुति, विषयों का चयन, लेखों की अन्तर्वस्तु हर चीज़ इस चेतना को दिमाग़ में रखकर तय की जानी चाहिए। प्रोपेगैण्डा और एजिटेशन के सम्बन्ध में लेनिन का साफ़ मत है कि “आन्दोलनकर्ता” (Agitator)... ऐसी बात का उदाहरण देगा, जो सबसे अधिक ज्वलन्त हो और जिसे **उसके सुननेवाले सबसे व्यापक रूप से जानते हों...**।” (ज़ोर हमारा)

‘सांस्कृतिक कार्य में संयुक्त मोर्चा’ लेख में माओ भी यही मत रखते हैं कि “जनसमुदाय के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हमें जनसमुदाय की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार काम करना चाहिए। **जनसमुदाय के लिए किये जाने**

वाले तमाम कार्यों का आरम्भ उसकी आवश्यकताओं के आधार पर होना चाहिए न कि किसी व्यक्ति की सदिच्छाओं के आधार पर।” (जोर हमारा)

अगर, क्रान्ति को समर्पित कोई अख़बार हिरावलपन्थी होने की ग़लती से बचना चाहता है तो उसके सम्पादक और लेखकों को लेनिन और माओ की इन बातों को गाँठ बाँध लेना चाहिए। इसी लेख में माओ तो यहाँ तक कहते हैं कि, “जनसमुदाय को अपना संकल्प खुद ही करना चाहिए, बजाय इसके कि हम उसपर अपना संकल्प लाद दें।”

अख़बार चाहे ‘व्यापक मेहनतकश आबादी’ के लिए निकाला जाने वाला ‘मास पोलिटिकल पेपर’ हो, चाहे वह ‘अग्रणी वर्ग-सचेत मज़दूरों’ को आगे बढ़ाने और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बतौर प्रशिक्षित करने के लिए निकाला जा रहा हो, दोनों ही स्थितियों में उसके ‘टारगेट रीडर ग्रुप’ की चेतना का वस्तुनिष्ठ आकलन किया जाना चाहिए। इन दो भिन्न टारगेट रीडर ग्रुप की चेतना में बहुत अन्तर है, इनकी राजनीतिक ज़रूरतें एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं, अतः अख़बार का कलेवर दोनों के लिए एक जैसा नहीं बनाया जा सकता। बिगुल के सम्पादक और लेखकों को हँसुए की शादी में खुरपी का गीत गाने की ग़लती से बचना चाहिए।

कनफ़्यूशियसवादी शैली

माफ़ करना दोस्तो, हमने आपको कनफ़्यूशियसवादी नहीं कहा था। हमने आप पर कनफ़्यूशियसवादी शैली अपनाने का आरोप लगाया था। परन्तु आपका कहना है कि तमाम ग्रन्थ उलट-पुलट देने के बावजूद आपको हमारा आरोप ठीक से समझ में नहीं आया। ऐसे में हमारी मजबूरी हो जाती है कि हम अपना आशय स्पष्ट करें।

कनफ़्यूशियस प्राचीन चीन का एक विद्वान था। क़रीब 2,500 वर्ष पहले वह तब पैदा हुआ जब चीन में पुरानी दास प्रथा टूट रही थी और नयी सामन्ती व्यवस्था उसकी जगह ले रही थी। कनफ़्यूशियस गुलामों के विद्रोहों से आतंकित था और टूटती हुई दास प्रथा को बचाना चाहता था। समाज में फैली अफ़रा-तफ़री, उठा-पटक और अराजकता को समाप्त करने के लिए उसने अपने विचार रखे। कनफ़्यूशियस ने घोर प्रतिक्रियावादी विचार प्रतिपादित किये। हालाँकि कनफ़्यूशियस दास प्रथा को बचा नहीं पाया, परन्तु बाद में चीन के सामन्तों ने उसकी बातें अपना लीं।

ऊपरी तौर पर देखा जाये तो कनफ़्यूशियस की बातें बड़ी अच्छी लगती हैं। वह समाज में प्रेम, मानवीयता, सदगुण, सदाचार, विश्वसनीयता, छोटों के प्रति पवित्र भावनाएँ, उदात्तता स्थापित करने की बातें करता है। ऐसी आकर्षक शैली अपनाने की वजह से सदियों तक समाज में उसकी बातों का प्रभाव बना रहा।

परन्तु ठोस व्यवहार में उसकी बातों के और ही मतलब निकलते थे। ठोस व्यवहार में उसकी शिक्षाएँ थीं –

“जो लोग दिमाग़ से काम करते हैं वे शासन करते हैं, जबकि वे लोग जो अपनी ताक़त से काम करते हैं, दूसरों द्वारा शासित होते हैं।”

“केवल सबसे ऊँचे लोग जो बुद्धिमान होते हैं और सबसे नीचे के लोग, जो मूर्ख होते हैं, को बदला नहीं जा सकता है।”

“कुछ लोग जन्म से ज्ञानी होते हैं।”

औरतों के लिए तीन आज्ञापालन और चार गुण – “जब कम उम्र की हो तो पिता और भाइयों का आज्ञापालन, जब शादीशुदा हो तो पति का आज्ञापालन, जब विधवा हो तो पुत्रों का आज्ञापालन” और चार गुण थे “अपनी हैसियत का बोध, मृदुभाषा, सजावट, घरेलू कामों में निपुणता।”

ठोस व्यवहार में कनफ़्यूशियस की बातें मेहनतकश लोगों के किसी काम की नहीं थीं और चीनी क्रान्ति ने इनका निषेध किया। इसलिए अगर कोई व्यक्ति ऐसी शैली अपनाता है जो ऊपरी तौर पर तो ठीक और अच्छी लगे परन्तु ठोस व्यवहार में किसी काम की न हो तो उसकी शैली को कनफ़्यूशियसवादी शैली कहा जा सकता है।

हमारा कहना है कि ऊपरी तौर पर तो यह बात बड़ी अच्छी लगती है कि आप ‘अग्रणी वर्ग-सचेत मज़दूरों’ को क्रान्ति के काम में दीक्षित करने के लिए अख़बार निकाल रहे हैं या ‘व्यापक मेहनतकश आबादी’ के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षा और प्रचार के लिए अख़बार निकाल रहे हैं। परन्तु ठोस व्यवहार में जब हम बिगुल को देखते हैं और पाते हैं कि यह दोनों में से किसी भी पाठक-समूह की वास्तविक राजनीतिक ज़रूरतों को पूरा नहीं करता है तब यह स्पष्ट होने लगता है कि यह किसी काम का नहीं है।

फिर भी हमें खेद है कि हमने कनफ़्यूशियसवादी शैली शब्द इस्तेमाल किया। इसकी जगह हमें और सटीक तथा धारदार शब्द इस्तेमाल करना चाहिए था, मसलन शब्दाडम्बरवादी या बमबम करने वाली (Flamboyant) या फिर ऐसे व्यक्ति की शैली जो लार को वक्लासव कहता हो जिसका जिक्र कुमारिल भट्ट ने उन भाववादी दार्शनिकों के लिए किया था जो योग के नाम पर नाना प्रकार की बकवास किया करते थे।

हिरावलपन्थी बने रहने से बचने के लिए बिगुल के सम्पादक को कुछ सलाहें

माओ (येनान की कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण) का कहना है : “किसके लिए? का सवाल बुनियादी सवाल है, यह एक उसूल का सवाल है।” इसी लेख में एक अन्य जगह (पृष्ठ 124-125, संकलित रचनाएँ, 1975) वे कहते हैं, “हम मार्क्सवादी हैं, और मार्क्सवाद हमें यह सिखाता है कि किसी भी समस्या से निपटते समय हमें वस्तुगत तथ्यों से शुरुआत करनी चाहिए, अमूर्त परिभाषाओं से नहीं, तथा इन तथ्यों का विश्लेषण करके ही हमें अपने निर्देशक उसूलों, नीतियों और उपायों को निर्धारित करना चाहिए।”

बिगुल के सम्पादक से हमारा कहना है कि उन्हें भी सर्वप्रथम बहुत निर्मम होकर “किसके लिए?” के बुनियादी सवाल को हल करना चाहिए। ‘व्यापक मेहनतकश आबादी’ के लिए अखबार और ‘अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों’ के लिए अखबार का घालमेल **बिगुल** को ‘किसी के लिए नहीं’ में तब्दील कर देता है। इस बुनियादी सवाल को तय किये बगैर **बिगुल** के लिए सही निर्देशक नीतियाँ तय ही नहीं हो सकती हैं। इस बुनियादी सवाल के ही उत्तर पर **बिगुल** में छपने वाले लेखों का राजनीतिक स्तर, लेखों की शैली, लेखों में प्रयोग किये जाने वाले शब्द, अखबार की प्रस्तुति सब कुछ निर्भर करता है। लम्बे चौड़े (एवं कठमुल्लावादी मार्क्सवादी) तर्कों का धुआँ उड़ाकर यदि **बिगुल** के सम्पादक इस बुनियादी सवाल से किनारा काटने की कोशिश कर रहे हैं तो वे अपने को ही नुकसान पहुँचा रहे हैं, हमें नहीं। वे अपने ही ध्येय के प्रति वफ़ादारी का परिचय नहीं दे रहे हैं।

दूसरी बात यह कि सीधे-सीधे राजनीति देने का मतलब यह क़तई नहीं होता कि आप रटे-रटायें ‘मार्क्सवादी सूत्रों’ का भोंपू बजाकर पाठकों पर बौद्धिक आतंक कायम करने का काम करें। ऐसा बौद्धिक आतंक इन्क़लाब के किसी काम का नहीं होता है। इससे न तो व्यापक जनता समाजवाद के प्रति आकर्षित होती है और न ही यह अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों या समाजवाद के सिपाहियों (इन्क़लाबी कार्यकर्ताओं) के प्रशिक्षण में कोई मदद पहुँचाता है। भारी-भरकम मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग किये बगैर भी सामान्य हिन्दुस्तानी में सीधे-सीधे राजनीति दी जा सकती है। पाठकों को सामान्य बोधगम्य हिन्दुस्तानी में भी इन्क़लाब की जटिल समस्याएँ और पहलू समझाये जा सकते हैं। इसके लिए हमें स्तालिन और माओ की शैली का अनुसरण करना चाहिए या लेनिन की उस शैली को आत्मसात करने की कोशिश करनी चाहिए जिसे वे ‘गाँव के ग़रीबों से’ में प्रयोग करते हैं।

समाजवादी क्रान्ति, मार्क्सवाद के बिना नहीं हो सकती है। परन्तु मार्क्सवाद ज़िन्दगी और जीवन-संघर्षों का दर्शन है। अगर इसे मेहनतकशों की ज़िन्दगी और जन-संघर्षों के साथ न जोड़ा जाये तो यह जड़सूत्र बनकर रह जाता है या संशोधनवाद में परिवर्तित हो जाता है। बिगुल हिरावलपन्थी न बना रहे इसके लिए हमारा अनुरोध है कि आप मार्क्सवादी शिक्षकों के इस कथन का तब तक न इस्तेमाल करें जब तक कि आप इन्हें लोक-जीवन और लोक-संघर्षों से जोड़कर न समझायें। मार्क्सवादी शिक्षकों के कथनों को लोक-जीवन व लोक-संघर्षों से काटकर, अमूर्त ढंग से पेश करते रहने को सीधे-सीधे राजनीति देना नहीं कहते। ऐसा करने से **बिगुल** केवल अपनी प्रस्तुति में ही मार्क्सवादियों का अखबार लगता है, परन्तु अपनी अन्तर्वस्तु में वह एक हिरावलपन्थी अखबार बनकर रह जाता है और वह भी बड़े उथले किस्म का हिरावलपन्थी।

आपने चुटकी लेते हुए हमसे जानना चाहा है कि **बिगुल** की लाली कितनी कम कर दी जाये या इसे कितना पतला कर दिया जाये कि काम चले। हमारा कहना है कि **बिगुल** पहले ही बहुत पतला और गुलाबी है। इसे गाढ़ा और लाल बनाने की ज़रूरत है ताकि यह समाज में कुछ हलचल पैदा कर सके। आप समझते हैं कि यह एक एजिटेशनल अखबार है। परन्तु हमारी राय यह है कि यह कहीं से भी एजिटेशनल अखबार नहीं है। एक एजिटेशनल अखबार बनने के लिए इसे लोगों के जीवन की विशिष्ट घटनाएँ एवं तथ्य उठाने होंगे, जन-सामान्य की भाषा और समाज में प्रचलित उदाहरण लेकर पाठकों में पूँजीवादी राजसत्ता और पूँजीपति वर्ग के प्रति गुस्सा और नफ़रत पैदा करनी होगी। अपने वर्तमान स्वरूप में **बिगुल** पाठकों को क़तई एजिटेट नहीं करता है। यह अखबार कभी-कभार प्रोपेगैण्डा करने का प्रयास करता है। इसमें भी वह रटे-रटायें फिकरों तक सीमित होकर रह जाता है।

सीधे-सीधे राजनीति देकर क्रान्ति के काम को आगे बढ़ाना बड़ी अच्छी बात है। सीधे-सीधे राजनीति देने का मुग़ालता पालना बड़ी बुरी बात है। **बिगुल** की त्रासदी यह है कि यह सीधे-सीधे राजनीति नहीं दे रहा है। सीधे-सीधे राजनीति देने के लिए जुमलेबाजी से बचना होता है, सरल लोकप्रिय भाषा का इस्तेमाल करना होता है, अमूर्त सूत्र बताने के बजाय लोक-जीवन के ज्वलन्त मुद्दे उठाकर पाठकों को समाज में हो रहे शोषण का वर्गीय स्वरूप समझाना होता है, राजसत्ता से वर्गीय-शोषण का अन्तर्सम्बन्ध समझाना होता है, मेहनतकशों को एकताबद्ध होने और क्रान्ति की ज़रूरत का एहसास करवाना होता है, संगठन बनाने का रास्ता दिखाना होता है, राजसत्ता को पलटने का हौसला पैदा करना होता है...। मार्क्सवादी शब्दाडम्बर का धुआँ उड़ते हुए, अमूर्तता में समाजवाद के झण्डा को हिलाते रहने को सीधे-सीधे राजनीति देना नहीं कहते।

अगर आप चाहते हैं कि हम और गहराई में जाकर आपके हिरावलपन्थ की आलोचना करें तो ऐसा कीजियेगा कि प्रवेशांक

से लेकर अब तक हमें बिगुल के सारे अंक पहुँचा दीजिये। हम आपकी गाली-गलौज के बावजूद आपकी मदद करने को तैयार हैं।

द्वन्द्ववाद का नमूना

आपने अपने लेख में पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में बात की है। जैसाकि आपकी शैली है, जब आप औपचारिक सूत्र दुहरा रहे होते हैं तो सामान्य बातें कह देते हैं लेकिन जैसे ही आप विशिष्ट बातों पर आते हैं, आपका अपना अन्तरविरोध उजागर होकर सामने आ जाता है। बिगुल के 'टारगेट रीडर ग्रुप' के बारे में हम यह पहले ही देख चुके हैं। यहाँ भी यही देखने को मिलता है। पहले तो आप घोषित कर देते हैं कि पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण में द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्ध है लेकिन उसके तुरन्त बाद ही आप अपने श्रेणी विभाजन पर आ जाते हैं, हालाँकि अपनी वास्तविक पोजीशन को बचाने के लिए आप यह भी कह देते हैं कि अलग-अलग पार्टी ऑर्गन्स के बीच चीन की दीवार नहीं खींची जा सकती। आपके श्रेणी विभाजन को यदि बिना लाग-लपेट के रखें तो इस तरह दिखेगा।

प्रचारक → ज़ार्या, ज्वेज़्दा → पार्टी-गठन
आन्दोलनकर्ता → इस्क्रा, प्राव्दा → पार्टी-निर्माण

यह आपके श्रेणी विभाजन प्रेम का ही नतीजा है जो आपको इस नतीजे तक ले जाता है, जिसकी हास्यास्पद स्थिति को हम अभी देखेंगे। यही श्रेणी विभाजन प्रेम आपको दैनिक बनाम पाक्षिक या मासिक अख़बार तथा क़ानूनी बनाम ग़ैरक़ानूनी अख़बार का विभाजन करने और उन्हें राजनीतिक फ़र्क करने का मूल आधार बनाने तक ले जाता है।

अब, आपका श्रेणी विभाजन ठीक है तो इस्क्रा ने 1900-1903 के बीच पार्टी-निर्माण की भूमिका निभायी, हालाँकि अभी पार्टी का गठन ही नहीं हुआ था। और शब्दशः आप यही बात कहते भी हैं। लेकिन खुद बोल्शेविक पार्टी आपसे इस मसले पर इत्तफ़ाक नहीं रखती। पहले हमने जो उदाहरण दिये हैं उनसे साफ़ है कि बोल्शेविक पार्टी इस्क्रा का योगदान "पार्टी-गठन" में मानती है, "पार्टी-निर्माण" में नहीं। और वास्तव में हुआ भी यही था। अन्यथा हो भी क्या सकता था। जो पार्टी अभी गठित ही नहीं हुई, उसके निर्माण का सवाल कहाँ से पैदा हो गया? लेकिन आपके श्रेणी विभाजन का तर्क आपको ऐसे ही हास्यास्पद निष्कर्षों तक ले जा सकता है।

इसकी उल्टी बात भी आपको हास्यास्पद नतीजे तक ले जायेगी। मसलन "ज्वेज़्दा" जो आपके हिसाब से प्रचारक पत्र था, उसकी भूमिका पार्टी-गठन में बनती है। अब आपसे कोई सवाल पूछ सकता है कि जब पार्टी का गठन तो पहले ही हो चुका हो (ठीक, आप द्वारा दी गयी परिभाषा के अनुसार ही) तब यह पत्र क्या करेगा? ठीक क्रान्ति के पहले (या क्रान्ति के बाद भी) कोई सुसंगठित पार्टी 'ज़ार्या' या 'ज्वेज़्दा' जैसा पत्र निकाले तो वह पत्र क्या काम करेगा? पार्टी-गठन का? लेकिन आपका तर्क आपको ऐसे ही नतीजों तक ले जा सकता है। इनसे बचने के लिए तब आप 'द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्धों' की बात करने लगेंगे।

यहीं पर हम यह स्पष्ट कर दें कि पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण तथा इनमें पार्टी ऑर्गन्स की भूमिका के आपके उपरोक्त ग़ैर द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि आपने यहाँ पर पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण का सवाल उठाकर बात को ग़लत जगह ले जाने की कोशिश की है। बात को भटकाने की कोशिश की है (शायद यह भी आपकी 'द्वन्द्ववादी' शैली का नमूना हो)। लेकिन इसी में आपकी सबसे बड़ी कमज़ोरी और सबसे बड़ी समस्या भी छिपी है।

इस पूरी बहस में केन्द्र बिन्दु पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण नहीं बल्कि जनदिशा (Mass line) का सवाल है और आपकी सबसे बड़ी समस्या है कि आपने इसका पूरे लेख में ज़िक्र तक नहीं किया है। अब आप यह न कहें कि जनदिशा का सवाल, पार्टी-गठन/पार्टी-निर्माण का सवाल है। सवाल तो यह क्रान्ति का भी है और मार्क्सवादी दर्शन का भी। तब क्या हम इन पर बात करने लगेंगे?

जनता के किस हिस्से को कितनी चेतना, किस भाषा-शैली और रूप में दें, यह जनदिशा का सवाल है। वैसे जनदिशा के और भी पहलू हैं। फ़िलहाल हम अख़बार के प्रचारक-आन्दोलनकर्ता होने के पहलू से इस पर बात कर रहे हैं। 'व्यापक मज़दूर आबादी' में चेतना उन्नत मज़दूरों को ध्यान में रखकर देनी है या औसत मज़दूरों को, यह इससे तय होगा कि क्या आप जनदिशा के मामले में सही रुख़ अख़्तियार कर रहे हैं। यदि आप ऐसा करते तो आप "औसत चेतना" पर इतनी हाय-तौबा नहीं मचाते और न ही उसे 1899 के क्रीडो मतावलम्बियों से जोड़ने का प्रयास करते। तब आप इस बात से इतना परेशान नहीं होते कि पार्टी क़तारों और अग्रणी मज़दूरों के लिए 'इस्क्रा' जैसा अख़बार होना चाहिए और आम मज़दूरों के लिए 'प्राव्दा' जैसा आम राजनीतिक अख़बार। और तब न तो आप 'इस्क्रा' और 'प्राव्दा' में घालमेल करते और न ही 'अग्रणी वर्ग-सचेत मज़दूर' और 'व्यापक मेहनतकश आबादी' में।

आपकी सोच में निहित यह घालमेल आपके व्यवहार में भी रंग लाता है। न केवल बिगुल की समस्या यह है कि वह क्या, किसके लिए छापता है, इस मामले में वह 'सम्भ्रम, दिग्भ्रम व मतिभ्रम' का शिकार है, बल्कि इसके वितरण का भी यही हाल है। आप हमारी मासूमियत पर तरस खाते हैं कि हम नहीं जानते कि बिगुल एक क्रान्तिकारी धड़े का अख़बार है। लेकिन हम क्या करें? बिगुल के वितरक साथी, बिगुल को बिगुल मज़दूर दस्ता का अख़बार बताते हैं। अब, इस बात से तो हम क्या कोई भी यही निष्कर्ष निकालेगा कि बिगुल जनसंगठन की चेतना के स्तर का अख़बार है। आप इसे यदि पार्टी की चेतना का अख़बार कहें, तो यह घालमेल के अलावा क्या है? इसी तरह बिगुल के वितरक साथी बिगुल को केवल अग्रणी वर्ग-सचेत मज़दूरों को देने के बदले हर आम मज़दूर को पकड़ा देते हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं जो बिगुल में प्रयुक्त मार्क्सवादी शब्दावली के 90 प्रतिशत से अनभिज्ञ होते हैं, उसमें कही गयी बातों की तो बात ही क्या की जाये! अग्रणी वर्ग-सचेत मज़दूरों के लिए अख़बार निकालना और उसे हर खासो-आम को पढ़वाने का प्रयास करना क्या सोच की उसी घालमेल का व्यावहारिक प्रतिफलन नहीं है? क्या यह जनदिशा के बारे में 'मिथ्याभासी' चेतना का मामला नहीं है?

क्रीडो मत पर चन्द बातें

क्रीडो मत के सम्बन्ध में चन्द बातें कर लेना ज़रूरी है! इसलिए नहीं कि आप के आरोप में कुछ दम है (आपके आरोप को हम पहले ही रद्द कर चुके हैं और उसे दो-कौड़ी का भी नहीं मानते हैं) इसलिए कि आप खुद समझ सकें कि आरोप लगाने का आपका तरीका कितना सतही, छिछला और ओझों-सोखों जैसा है। इसलिए कि आपको खुद एहसास हो कि आप मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी बनाने के काम को कितनी अगम्भीरता से ले रहे हैं। इसलिए कि आपको समझ में आये कि लेनिन की पार्टी बनाने के तरीके में और आपके तरीके में कितना अन्तर है।

क्रीडो मत क्या था? क्रीडो मतावलम्बियों का मानना था कि -

- पश्चिमी यूरोप के सर्वहारा वर्ग ने राजनीतिक आज़ादी हासिल करने के संघर्षों में कोई भूमिका अदा नहीं की।
 - औद्योगिक सर्वहारा में संगठनबद्ध होने की क्षमता नहीं होती है। वह बहुत धीमे-धीमे और बहुत अनमने ढंग से संगठन बनाने के लिए तैयार होता है। वह केवल ढीले-ढाले और कमज़ोर संगठन ही बना सकता है।
 - रूस की विशेष स्थितियों में सर्वहारा द्वारा राजनीतिक संघर्ष की कोई सम्भावना नहीं थी क्योंकि रूसी सर्वहारा बहुत कमज़ोर था और रूस में राजनीतिक उत्पीड़न बहुत ज़्यादा था। राजनीतिक संघर्ष का काम उदार पूँजीपति वर्ग के जिम्मे छोड़ दिया जाना चाहिए।
 - सर्वहारा वर्ग की स्वतन्त्र पार्टी बनाने की सारी बातें, रूसी भूमि पर विजातीय (विदेशी) लक्ष्य आरोपित करने के समान हैं।
 - रूसी मार्क्सवादी के सामने एक ही रास्ता बचता है, वह यह कि रूसी मार्क्सवादी आर्थिक संघर्षों में मदद और उदार पूँजीपतियों के नेतृत्व में राजनीतिक गतिविधियों तक अपने आप को सीमित रखें।
 - मार्क्सवादियों की वर्गीय रूपरेखा (Schema) उन्हें सामाजिक जीवन में खुलकर हिस्सेदारी करने से रोकती है। उन्हें इसे त्याग कर उदार-जनवादी मार्क्सवादी बन जाना चाहिए।
- ये क्रीडो मत के चारित्रिक लक्षण हैं। इन्हें समग्रता में मानने वाले किसी व्यक्ति को क्रीडो मतावलम्बी कहा जा सकता है।

अगर आप किसी को 1999 के भारत के क्रीडो मतावलम्बी कहना चाहते हैं, तो आपको उसमें ये छः चारित्रिक लक्षण दिखाने पड़ेंगे। इसमें आप रूस की जगह भारत इस्तेमाल कर सकते हैं। आपने एक विशिष्ट आरोप लगाया है, इसलिए कायदन आपको क्रीडो मत के सभी लक्षण दिखाने चाहिए। परन्तु अगर आपको बच्चा मानकर रियायत भी दे दी जाये तब भी आपको इनमें से अधिकांश लक्षण दिखाने चाहिए। आरोप लगाते वक्त आपकी हालत यह है कि आप मनगढन्त बातें इकट्ठी करते हैं, उन्हें सामने वाले के मुँह में ठूँसते हैं और आरोप लगाकर आह्लादित हो जाते हैं।

आपके आरोप का आधार ऐसी बातें हैं जो सामने वाले ने कही ही नहीं हैं, और न ही ऐसी बातें जिनका अभिप्राय भी वह निकलता हो, जो आप आरोप में इस्तेमाल करते हैं। अगर सामने वाला दौर की ज़रूरतों को मद्देनज़र रखते हुए जनता के बीच काम करने की बात कर रहा हो और इसके लिए रूस के क्रान्तिकारियों का उदाहरण ले कि कैसे वे अलग-अलग दौरों के हिसाब से अपने काम के तरीके बदलते रहे, तो आप मनोगत होकर इसका मतलब यह समझते हैं कि वह आर्थिक-सांस्कृतिक कार्यों तक सीमित रहने की कोशिश कर रहा है। कॉमरेड, यह मनोगतवाद की इन्तहा है। लम्बे समय तक अगर आप यही कार्यशैली अपनाते रहे तो आपकी हालत यह हो जायेगी कि आईने में अपना चेहरा देखने पर आपको लगेगा कि आप कार्ल मार्क्स हैं। लेनिन के तरीके और आपके तरीके में अन्तर यह है कि लेनिन कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़ने की बाज़ीगरी

नहीं करते थे। हमारा आपसे अनुरोध है कि आप लेनिन की संग्रहीत रचनाओं के खण्ड 4 में से 'ए प्रोटेस्ट बाई रसियन सोशल-डेमोक्रेट्स' पढ़ें। इस लेख में लेनिन सबसे पहले पूरा का पूरा क्रीडो घोषणापत्र उद्धृत करते हैं। उसके बाद वे मनोगत होने के बजाय, उन्हीं बातों को हूबहू वैसे ही लेते हैं जैसे लेखक ने उन्हें कहा है, और एक-एक महत्वपूर्ण बात का खण्डन करते चले जाते हैं। लेनिन कहीं भी सामने वाली की बात को खींचकर उसका मतलब बदलने की हिमाकत नहीं करते। और न ही वे अपने खण्डन के दौरान सामने वाले की खिल्ली उड़ाने की हरकत करते हैं। वे सामने वाले की ग़लत सोच को ठीक करने के लिए उससे गम्भीर संघर्ष करते हैं। रूस के सामाजिक-जनवादियों के इस प्रतिवाद को कई बार पढ़कर आप को सीखना चाहिए कि पार्टी बनाने के काम को कैसी गम्भीरता से एक इन्क़लाबी को लेना चाहिए।

दोस्तो, आपको हमारी नेक सलाह है कि ऐसी छिछली कार्यशैली को छोड़ें। आत्म-संघर्ष करके जल्दी से जल्दी छोड़ें। जब तक आप इससे मुक्त नहीं होते, तब तक देश के क्रान्तिकारी भी, आप में वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता के अभाव की वजह से, आपको अगम्भीर लोग मानने के लिए विवश होंगे और आपके साथ एकता के प्रति अनिच्छुक रहेंगे।

अख़बार में नामों का प्रयोग

हमारा स्पष्ट मत है कि अख़बार पाठक समूह की चेतना को आगे बढ़ाने के लिए निकाला जाता है, न कि अपना 'बायो-डाटा' सुधारने के लिए। पाठक-समूह की चेतना पर इससे फ़र्क़ पड़ता है कि अख़बार में क्या लिखा जाता है, न कि इससे कि लेखक का क्या नाम है। अख़बार किसी भी हालत में व्यक्तिगत शोहरत हासिल करने का माध्यम नहीं होना चाहिए। अगर एक क़ानूनी पत्र निकाला जा रहा है तो भारतीय क़ानूनों के तहत यह ज़रूरी हो जाता है कि अख़बार के मालिक एवं सम्पादक का नाम दिया जाये। इससे बचकर क़ानूनी अख़बार निकाला नहीं जा सकता है। ऐसी स्थितियों में हमारी राय है कि क्रान्तिकारियों को अपने अख़बारों में 'प्रिण्ट लाइन' के अलावा कोई और नाम देने की ज़रूरत नहीं है। पाठकों के पत्र नाम से देना एक अलग बात है।

बिगुल के सम्पादक का मत है कि भूमिगत कार्यकर्ताओं को छोड़कर शेष लेखकों के नाम दिये जाने चाहिए। इससे लेखकों की राजनीतिक लाइन पर नज़र रखने में मदद मिलती है और बाद में इनमें से जब कोई संशोधनवाद करने लगे तो उसके विचलन की जड़ें तलाशी जा सकती हैं।

बिगुल के सम्पादक एवं लेखक अपने आपको हिन्दुस्तानी क्रान्ति का केन्द्र समझते हैं, यह जानकर हमें काफ़ी हैरानी हुई। दोस्तो, माओ बनने के दिवास्वप्न देखना एक मानसिक रोग है। इसके बजाय आपको क्रान्ति के काम की व्यावहारिक योजनाएँ बनानी चाहिए। एक क्रान्तिकारी को सपने देखने चाहिए, किन्तु खुद की महानता की बजाय जनता की मुक्ति और खुशी के सपने देखने चाहिए।

अगर फिर भी आप अख़बार में लेखकों के नाम देने की बात इसलिए सोचते हैं ताकि बाद में राजनीतिक लाइन तलाशी जा सके, तो भी हमारी सलाह है कि लेखकों को गुमनाम बनाये रखते हुए भी इस समस्या का समाधान हो सकता है। आप ऐसा कीजिये कि बाज़ार से 10 रुपये की एक कापी ख़रीद लें और **बिगुल** के सम्पादकीय मेज़ की दराज़ में उसे चाबी लगाकर रखें। इस कापी में हर लेख और उसके लेखक का रिकॉर्ड बनाते चलिए। बस इतना कर लेने से लाइन की तलाशी के लिए रिकॉर्ड की समस्या हल हो जायेगी (चाहे तो रिकॉर्ड की दो प्रतियाँ बनायें जिनमें से एक को अपने अभिलेखागार में सुरक्षित रखें)।

गुमनाम लेखन करना केवल भूमिगत जीवन की ज़रूरतों के लिए ज़रूरी नहीं है, लेखक की मानसिक सेहत के लिए भी ज़रूरी है। परन्तु आप तो इसके विपरीत मत रखते हैं। चलिए, हम ही आपसे दो सवाल पूछ लेते हैं? **बिगुल** में न केवल लेखकों के नाम छपते हैं बल्कि अनुवादकों के भी नाम छपते हैं। क्या आप बतायेंगे कि अनुवाद में कौन सी लाइन तलाशेंगे, (और वह भी तब जब अनुवाद में प्रयोग किये गये शब्दों की अन्तिम ज़िम्मेदारी सम्पादक की होती है) दूसरा सवाल यह कि क्या हम मानें कि जिन साथियों के असली नाम **बिगुल** में अब तक छपे हैं, उनका भूमिगत जीवन समाप्त हो गया है? यहाँ हम अभी यह सवाल नहीं उठा रहे हैं कि जो लेख, लेखक के बजाय किसी और के नाम से छपते हैं उनमें "लाइन की ग़लती" की ज़िम्मेदारी लेखक की होगी या उस व्यक्ति की जिसका नाम छपा गया है। फ़र्ज़ कीजिये कि अगर यह सम्पादकीय जवाब यदि आपने नहीं, किसी और ने लिखा हो तो इसमें लाइन की जिन ग़लतियों को हमने चिह्नित किया है, उसका ज़िम्मेदार कौन होगा? आप या वह लेखक?

अस्तु

कुल मिलाकर आपके जवाब के बारे में मेरी राय यह है कि आप **बिगुल** के लक्ष्य और स्वरूप के बारे में **सम्भ्रम-मतिभ्रम-दिग्भ्रम** के शिकार हैं, अपने पाठकों की चेतना के बारे में बिल्कुल अनजान हैं और **बिगुल** को अपना

पण्डिताऊपन झाड़ने तथा अपनी भड़ास निकालने के साधन के तौर पर इस्तेमाल कर रहे हैं। इसके लिए आप शब्दजाल-वाक्यजाल-(कु)तर्कजाल का भरपूर प्रयोग करते हैं। पार्टी संगठन और जनसंगठन के चरित्र और उनके आपसी रिश्तों से या तो आप बिल्कुल अनभिज्ञ हैं या फिर 'मिथ्याभास' के शिकार हैं। फलस्वरूप पार्टी कृतारों – उन्नत चेतना वाले वर्ग-सचेत मजदूरों के अख़बार और व्यापक मेहनतकश आबादी के अख़बार के बीच मूल फ़र्क को आप नज़रअन्दाज़ करते हैं और जब प्रोपेगैण्डा और एजिटेशन के ध्रुमावरण में अपनी अवस्थिति को सही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं तो हास्यास्पद लगने लगते हैं। जब आप दार्शनिक उड़ान भरते हैं तो द्वन्द्ववाद को भोंड़पन की हद तक ले जाते हैं।

साथी, इन सारे मसलों पर ग़ौर करें और यदि सम्भव हो तो इन्हें ठीक करें। यदि इन मसलों पर आपका नज़रिया ठीक हो जाता है तो अन्य मुद्दों पर भी आपसे बहस-मुबाहिसे का रास्ता खुल जायेगा।

उम्मीद है कि आप बहस को जारी रखेंगे।

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ
आपका साथी
पी.पी. आर्य, पन्तनगर

बहस को मूल मुद्दे पर एक बार फिर वापस लाते हुए

प्रति,
साथी पी.पी. आर्य
10 अक्टूबर '99
प्रिय साथी,

आपका 21 अगस्त '99 का पत्र 10 सितम्बर '99 को प्राप्त हो चुका था। देर से उत्तर देने के लिए हमें खेद है, पर सितम्बर के महीने की राजनीतिक व्यस्तताओं के चलते और 'बिगुल' में कुछ अन्य विशेष सामयिक सामग्री देने की मजबूरी के चलते, हम आपका पत्र देर से छाप रहे हैं और उसका उत्तर देर से दे पा रहे हैं।

न चाहते हुए भी आपके जवाब पर एक सामान्य टिप्पणी :

* पॉलिमिक्स चलाने के बारे में "मूल्यवान" नसीहतें देने की आड़ लेकर आपने अपने कुछ स्पष्ट आरोपों से मुकरने की कोशिश की है तथा लम्बा-चौड़ा पँवारा बाँधकर अपनी राजनीतिक लाइन के असली चरित्र पर पर्दा डालने तथा मतभेद के बुनियादी मुद्दों को लोकरंजक (Populist) जुमलेबाजियों, वकीलाना जिरहबाजी और हवाबाजी के सहारे किनारे धकेलने में कोई कसर नहीं उठा रखी है।

* आपने न केवल हमारी बातों को और ऐतिहासिक तथ्यों को भी भारी तोड़-मरोड़ के साथ प्रस्तुत किया है, बल्कि निहायत ग़लत और अप्रासंगिक ढंग से लम्बे उद्धरण पेश करके पाण्डित्य-प्रदर्शन करते हुए बहस को मूल प्रश्नों से भटकाने की कोशिश की है।

* आपकी बुनियादी पद्धति यह है कि जो-जो कुकृत्य खुद करने हों, वही तोहमत अग्रिम तौर पर विरोधी पर मढ़ दो। मसलन, खुद तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना हो तो पहले सामने वाले पर ही यह आरोप लगा दो; खुद गालियों की बौछार करनी हो तो पहले सामने वाले पर ही यह आरोप लगा दो; या तो सर्वमान्य आम बातों की पुष्टि के लिए या फिर अप्रासंगिक ढंग से उद्धरणबाजी करके पाण्डित्य-प्रदर्शन करना हो तो पहले सामने वाले पर ही यह आरोप लगा दो; स्वयं बहस को ("आगे बढ़ाने" के नाम पर) मूल मुद्दे से दूर ले जाना हो तो पहले सामने वाले पर ही यह आरोप लगा दो।

'पॉलिमिक्स' की कार्यशैली के बारे में मजबूरन कुछ बातें

'पॉलिमिक्स' कैसे चलायी जाये? हम समझते हैं कि कम्युनिस्टों की आपसी बहस 'अरुण जेटली-कपिल सिब्बल मार्का दूरदर्शनी बहस' की तरह नहीं होनी चाहिए। यानी एक-एक तकनीकी नुक्ते – नुक्ते तक के नुक्ते को उठाकर विरोधी को कोने में धकेलने की कोशिश में ग़लतबयानी तक करने की हदों तक पहुँच जाना और मतभेद के मूल मुद्दों को स्पष्ट करने से बचना या उन पर लीपापोती करना तथा जिन तर्कों का उत्तर न हो उन्हें किनारे धकेलकर नयी-नयी बातें करने लग जाना – यह तिकड़मबाजी है। तुर्की-ब-तुर्की, वाक्य-दर-वाक्य खण्डन-मण्डनात्मक शैली अपनाने के बजाय पहले ज़ेरे-बहस सामने आये मतभेद के बुनियादी मुद्दों को रेखांकित कर लिया जाना चाहिए – यानी बहस 'पोजीशनल वारफ़ेयर' के रूप में होनी चाहिए, 'गुरिल्ला वारफ़ेयर' के रूप में नहीं। राजनीतिक सूत्रीकरणों-विशेषणों को गाली या तोहमत नहीं समझना चाहिए और गालियों-तोहमतों को राजनीतिक सूत्रीकरणों के रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। मूल मुद्दों पर अपने पूरे तर्कों को रखने के बाद ही शैली आदि के प्रश्न या विरोधी द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों-साक्ष्यों की अप्रासंगिकता जैसे सवाल उठाये जाने चाहिए तथा आलोचना रखी जानी चाहिए। जिन मुद्दों पर विरोधी द्वारा प्रस्तुत तर्कों के उत्तर न हों उन्हें ईमानदारी के साथ स्वीकार करना और सोचना चाहिए। इसके बजाय ऐसा नहीं करना चाहिए कि अगली पारी में उन मुद्दों को ही दरकिनार कर दें, या उत्तर दिये जा चुके आरोपों

को ही फिर से दुहरा दें या दूसरे सवाल उठाकर अपनी अवस्थिति की मूल विसंगतियों पर ही पर्दा डाल दें। विरोधी हमलों से बचने के लिए न तो दायें-बायें कूदना चाहिए और न ही हर अगले जवाब में अपनी पोजीशन में थोड़ा-सा खिसक लेने का अवसरवादी तरीका इस्तेमाल करना चाहिए।

हम ये सारी बातें आम तौर पर नहीं, खास तौर पर आपके सन्दर्भ में कर रहे हैं। “*पॉलिमिक्स कैसे चलाये*” या “*अपने आपको सुधार ले*” जैसी नसीहतें देने या शेखीबाजी करने के हम कायल नहीं हैं और न ही अपने को इसका हकदार समझते हैं, पर हमें यह गहरी चिन्ता जरूर हो गयी है कि आप कहाँ जा रहे हैं और अपने सफर में कहाँ तक पहुँच चुके हैं!

थोड़ा रुककर, यथासम्भव वस्तुगत होकर सोचने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचते जा रहे हैं कि आप अहम्मन्यतापूर्वक अपनी बातों पर डटे रहने की शेखी बघारते हुए अपनी बुनियादी पोजीशन से दायें-बायें दोलन करते रहने की अवसरवादी पद्धति का सहारा ले रहे हैं। आप संयम व विवेक के साथ विरोधी बातों पर गौर करने का माद्दा पूरी तरह खो बैठे हैं। बहस धीरे-धीरे “*अन्धे के आगे रोना, अपना दीदा खोना*” की स्थिति में पहुँचती जा रही है। फिर भी हम एक बार फिर आपको बहस के बुनियादी मुद्दों और हमारे मतभेदों की याद दिलाने की कोशिश करेंगे। लेकिन इसके पहले मजबूरी यह है कि आपने बहस को मूल मुद्दे से ज़्यादा से ज़्यादा दूर ले जाते हुए हमारे ऊपर तोहमतों का जो कचड़ा उड़ेलने की कोशिश की है, उनमें से कम से कम सबसे प्रमुख, सबसे भ्रमोत्पादक, सबसे धूर्ततापूर्ण और सबसे घटिया कुछ आरोपों के बारे में कुछ कहा जाये।

न चाहते हुए भी हम आपकी कुछ तकनीकी-क़ानूनी आपत्तियों-आरोपों की भी थोड़ी चर्चा करेंगे। हालाँकि यह चर्चा फिर संवाद को मूल मुद्दे से दूर ले जायेगी, पर यदि यह चर्चा न की जाये तो आपका और आपके बहुतेरे पूर्वाग्रही और ‘मुँदी आँखों वाले’ साथियों का ध्यान मूल मुद्दों पर जायेगा ही नहीं और आपका आत्मधर्माभिमान (Self-righteousness) आपकी विवेक-बुद्धि को सक्रिय ही नहीं होने देगा।

मिथ्यारोपों के बारे में

1. सबसे पहले स्पष्टीकरण आपकी पहली आपत्ति के बारे में। आपके पत्र की तिथि 6.5.99 की जगह 5.6.99 छप जाना विशुद्ध रूप से प्रूफ़ की ग़लती है जिसके लिए प्रेस का काम देखने वाले हमारे साथी ज़िम्मेदार हैं। हमें इस ग़लती के लिए हार्दिक खेद है। इस तकनीकी ग़लती का उल्लेख आपने यह सिद्ध करने के लिए किया है कि आपके पत्र का जवाब देने के लिए हमारे पास काफ़ी समय था और हमारा जवाब हमारी सोची-समझी अवस्थिति है। वैसे, आप यह तर्क न भी देते तो हम स्वयं स्वीकार करते हैं कि हमारा जवाब हमारी सोची-समझी अवस्थिति ही है। आपका जवाब देने के लिए हमारे पास पर्याप्त समय था यह भी सही है, हालाँकि यह “पर्याप्त समय” हमने पहले से ही इसी काम के लिए आरक्षित नहीं रखा था।

वैसे इस तकनीकी ग़लती को निर्दिष्ट करने के पीछे आपका उद्देश्य शायद कुछ और ही है। इसे साफ़ करने के लिए हम कुछ और तथ्यों की ओर इंगित कर रहे हैं। आपके वर्तमान पत्र की तारीख 21 अगस्त '99 है। हमें यह पत्र 10 सितम्बर को रजिस्टर्ड डाक से प्राप्त हुआ। पर हमें भेजने से पहले, अगस्त के अन्त तक आप यह पत्र पूरे तराई क्षेत्र में, दिल्ली व अन्यत्र बाँट चुके थे, जिसकी सूचना हमें वहाँ के साथियों से मिली। आपकी यह सोची-समझी कार्य-प्रणाली लगती है, पर आप इससे क्या सिद्ध करना चाहते हैं? इस मसले पर हम बस इतना ही कहना चाहते हैं कि कचहरी के मुकदमेबाजों की तरह “*केस खड़ा करने के लिए*” तमाम तकनीकी तथ्यों, भूलों-ग़लतियों की आड़ में मतभेद के मूलभूत मुद्दों को दरकिनार कर देना ‘पॉलिमिक्स’ को संचालित करने की सही कार्यशैली कदापि नहीं हो सकती।

2. आपकी एक आपत्ति आपके पत्र को दिये गये शीर्षक को लेकर है। आपके अनुसार, “*किसी के पत्र को शीर्षक देना क़तई ग़लत नहीं है। परन्तु ईमानदारी का तकाज़ा यह है कि सम्पादक पत्र की मूल भावना के अनुरूप शीर्षक दे।*” आपके ख़याल से हमने ऐसा न करके एक अनैतिक काम किया है और ‘बिगुल’ के पाठकों की निगाह में गिर गये हैं।

आइये देखें, सच्चाई क्या है। हमने आपके पत्र को शीर्षक दिया है, “**आप लोग कमज़ोर, छिछले कैरियरवादी बुद्धिजीवी हैं और ‘बिगुल’ हिरावलपन्थी अख़बार है!**” क्या यह शीर्षक आपके पत्र की मूल भावना के प्रतिकूल है? आपने अपने पहले पत्र के शुरुआती हिस्से में ही (बिगुल, जून-जुलाई '99, पृ. 5, पहला कॉलम, तीसरा पैरा) हम लोगों को “*ऐसे कमज़ोर व छिछले लोग*” बताया है जो... “*आत्ममहानता की कुण्ठाओं में जीना पसन्द करते हैं।*” यह तो शब्दशः उद्धृत करने की बात हुई, वास्तव में इस आशय के कई आरोप आपने पूरे पत्र में लगाये हैं। आम बुद्धिजीवी की स्थिति-मानसिकता के बारे में **लेनिन** का जो लम्बा उद्धरण आपने दिया है, वह यदि सर्वहारा क्रान्तिकारी संगठन से जुड़कर सक्रिय किसी भी बुद्धिजीवी पर लागू किया जाये, तो निस्सन्देह वह कैरियरवादी ही सिद्ध होगा। नाम से लेख लिखने वाले प्रसंग में भी छपास व शोहरत के भूखे जिन निकृष्ट व्यक्तिवादियों की आपने चर्चा की है, वह भी कोई हवा में चलाया गया तीर या यूँ ही कही गयी बात नहीं है। आपके ख़याल से ‘बिगुल’ में अपने मूल नाम से लिखने वाले लोग (और उन्हें छापने वाले सम्पादक भी) ऐसे ही

कैरियरवादी बुद्धिजीवी हैं। हम “कमज़ोर व छिछले” “बुद्धिजीवी” “आत्ममहानता की कुण्डलों में जीने” के साथ ही यदि लेनिन को ग़लत उद्धृत करते हुए “पाठकों को झाँसा” देते हैं, तो भला हम “कैरियरवादी” के अतिरिक्त और क्या हैं?

जहाँ तक शीर्षक के अगले वाक्यांश की बात है, तो यह तो आप भी स्वीकार करेंगे कि आपने ‘बिगुल’ को स्पष्टतः एक हिरावलपन्थी अख़बार कहा है क्योंकि यह मज़दूर वर्ग की चेतना के स्तर का ख़याल किये बग़ैर उस पर “ऐसी बहुत सारी सामग्री लादने की कोशिश” करता है “जो आन्दोलन की आवश्यकताओं से मेल नहीं खाती है।” आपने इसके लिए पर्याप्त तर्क भी दिये हैं (देखिये, आपका 6 मई, 99 का पत्र, बिगुल, जून-जुलाई '99, पृ.6, दूसरा पैरा)। हमने आपके पत्र के इसी मूल मन्तव्य या प्रत्यारोप को – आपके पूरे पत्र की इसी मूल भावना को, शीर्षक में समेटा है। सारी तोहमतें लगाने के बाद आप इन्हें सूत्रबद्ध करने से घबराते क्यों हैं? यहाँ सवाल किसकी नैतिकता का है और आखिर आप इस तरह के मनगढ़न्त आरोप क्यों लगा रहे हैं

इसपर हम कुछ नहीं कहेंगे, क्योंकि तब आप फिर पिनपिनाने लगेंगे कि हम आप पर मनगढ़न्त आरोप लगा रहे हैं और गाली दे रहे हैं, और बहस फिर मूल मुद्दे से और अधिक दूर चली जायेगी।

3. आपकी एक आपत्ति यह है कि बुद्धिजीवियों के बारे में आपने (अपने 6 मई के पत्र में) लेनिन का जो लम्बा उद्धरण दिया है, उसमें से जान-बूझकर हमने उद्धरण चिह्न हटा दिये हैं, जिससे ये लगे कि ये बातें लेनिन की न होकर आपकी हैं। स्पष्ट कर दें कि आपका पत्र कोई नुक्ता तक लगाये बिना (सिर्फ़ शीर्षक देकर) कम्पोज़िंग के लिए दे दिया गया। हमें प्राप्त पत्र की फ़ोटो प्रतिलिपि के सूक्ष्म-मद्धम उद्धरण चिह्नों पर कम्पोज़िटर द्वारा ग़ौर न किये जाने और प्रूफ़रीडर साथी की लापरवाही के कारण यह ग़लती हुई है, जिसका हमें खेद है। पर लेनिन की प्रसिद्ध पुस्तक के इस प्रसिद्ध उद्धरण को आपका कथन सिद्ध कर देने से भला हमारी अवस्थिति को क्या लाभ मिलता? इसमें नीयत में खोट आप किस रूप में निकाल रहे हैं? आप में प्रचुर विद्वता और अनुभव हो भी, तो हम आपके मुँह में लेनिन की बात ठूँसकर; आपको उनके समकक्ष रखने की हिमाकत तो नहीं ही करेंगे।

4. आपका कहना है कि हमने अपने जवाब में आपको “अनेक विशेषणों और मनगढ़न्त आरोपों से सुशोभित किया है।” आपने हमारे इन विशेषणों की एक सूची प्रस्तुत की है। हम आपसे विनम्रतापूर्वक दो बातें कहना चाहते हैं। पहली तो यह कि यदि ऐसे ही अलंकारों, विशेषणों को आपके दोनों पत्रों से छौटकर, सन्दर्भहीन ढंग से सूची तैयार की जाये तो यह आप द्वारा प्रस्तुत सूची से बहुत अधिक लम्बी होगी।

दूसरी बात यह कि आप जैसों की राजनीतिक प्रवृत्ति के चरित्र-निरूपण के लिए जिस किसी भी राजनीतिक विशेषण का इस्तेमाल किया गया है, उसके लिए हमने बहस शुरू करते हुए दिये गये प्रारम्भिक सम्पादकीय आलेख (बिगुल, अप्रैल, 1999) में और आपके 6 मई '99 के पत्र के प्रत्युत्तर (बिगुल, जून-जुलाई, 1999) में तफ़सील से तर्क दिये हैं। पहले ही लेख में हमने स्पष्ट रूप में कहा है कि जिन लोगों की राय है कि मज़दूर वर्ग के बीच सीधे-सीधे विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई से मज़दूर वर्ग के अख़बार को बचना चाहिए तथा महज़ आर्थिक संघर्षों के मुद्दों-कार्रवाइयों तथा नागरिक अधिकारों के इर्द-गिर्द लेख-टिप्पणियाँ, रपटें छापकर आम मज़दूरों की चेतना को थोड़ा ऊपर उठाने के बाद ही उनके बीच सीधे राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई सम्भव है; जो लोग एक मज़दूर अख़बार का मुख्य लक्ष्य पाठक समुदाय (Target Reader Group) औसत और निचली चेतना की व्यापक मज़दूर आबादी को बताते हैं; जो लोग आर्थिक लड़ाइयाँ और यूनियनों खड़ी करने को ही “सर्वोपरि क्रान्तिकारी काम” मानते हैं और सोचते हैं कि इसी के ज़रिये मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के गठन और निर्माण का काम भी पूरा हो जायेगा, वे अर्थवाद और सामाजिक जनवाद की एक नयी मेंशेविक प्रवृत्ति के साथ ही अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी प्रवृत्ति के शिकार हैं। आपके 6 मई '99 के पत्र का विश्लेषण करते हुए पुनः बिगुल (जून-जुलाई, 1999) में प्रकाशित अपने उत्तर में हमने तफ़सील से तर्क देते हुए बताया है कि हम आपको “1999 के भारत का क्रीडो मतावलम्बी” और आपकी लाइन को अर्थवादी, सामाजिक जनवादी और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भटकाव से ग्रस्त मानते हैं। अब आपकी दिक्कत यह है कि पूरे तर्कों के बावजूद आप विरोधी के राजनीतिक सूत्रीकरणों-विशेषणों को हर हाल में गाली मानने पर अड़े हैं और सन्दर्भों से कटे हवालों तथा तोड़े-मरोड़े गये तथ्यों के आधार पर खुद द्वारा किये गये गाली-गलौज को ‘स्वस्थ पॉलिमिक्स’ समझते हैं। आपके ऐसे ही आरोप पर अपना स्पष्टीकरण हम पहले भी दे चुके हैं।

5. ‘इस्क्रा’ और ‘प्राव्दा’ के बुनियादी चरित्र के सम्बन्ध में मूल मुद्दे को हल्का (dilute) करते हुए और बहकाते हुए लम्बे-चौड़े उद्धरण के द्वारा आपने पाण्डित्य-प्रदर्शन की कोशिश की है। उसकी चर्चा तो हम आगे करेंगे। लेकिन आपके उस घटिया आरोप पर स्पष्टीकरण ज़रूरी है, जिसके द्वारा आपने हमारे ऊपर ‘सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास’ को ग़लत उद्धृत करने की बात कही है। हमने ‘प्राव्दा’ के बारे में यह लिखा है कि उसने चौथी दूमा के चुनाव

के पूर्व आगे बढ़े हुए कम्युनिस्टों को संगठित किया और मजदूर वर्ग की आम क्रान्तिकारी पार्टी के रूप में बोल्शेविक पार्टी को ढालने के लिए **प्राव्दा** की कार्यनीति ने राजनीतिक रूप से सक्रिय मजदूरों के अस्सी फीसदी का समर्थन हासिल किया। एक वकील की तरह आपने उक्त पुस्तक से उद्धरण देते हुए प्रश्न उठाया है कि 'परिणाम कैसे कारण बन गया है और कर्ता कैसे बदल गया है?' हम आपकी सेवा में निवेदन करना चाहते हैं कि हमने 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास' (पृ. 181 से) हूबहू (Quote-unquote) उद्धरण नहीं लिया है, बल्कि '**प्राव्दा**' के बारे में पृ. 176 से लेकर 184 तक दिये गये विवरण के आधार पर अपना निचोड़ प्रस्तुत किया है। पृ. 181 के जिस वाक्यांश को आपने प्रस्तुत किया है, वहाँ यह चर्चा हो रही है कि बोल्शेविकों ने विसर्जनवादियों की कार्यनीति के खिलाफ राजनीतिक तौर पर सक्रिय मजदूरों में से 80 फीसदी को बोल्शेविक पार्टी और **प्राव्दा** की कार्यनीति के साथ खड़ा कर लिया। यहाँ जब हम चर्चा **प्राव्दा** के चरित्र और भूमिका की कर रहे हैं तो उन्हीं पृष्ठों पर दी गयी सामग्री के आधार पर यह नतीजा निकालते हैं कि **प्राव्दा** ने राजनीतिक तौर से सक्रिय मजदूरों के अस्सी फीसदी का समर्थन हासिल किया, मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी खड़ी करने के लिए। वैसे सिर्फ बोल्शेविक पार्टी के इतिहास के उपरोक्त पृष्ठों के आधार पर ही नहीं, स्वयं आपने **प्राव्दा** के बारे में जो विवरण दिया है, उससे भी यही नतीजा निकलता है कि **प्राव्दा** ने मजदूर वर्ग की आम क्रान्तिकारी पार्टी खड़ी करने के लिए राजनीतिक रूप से सक्रिय मजदूरों के व्यापक हिस्से को साथ लिया।

जहाँ हमने बोल्शेविक पार्टी के इतिहास के पृ. 181 से हूबहू (Quote-unquote) उद्धृत किया है, वहाँ कुछ नहीं सूझने पर आपने यह आरोप थोप मारा है कि हमने कुछ शब्दों पर अपनी ओर से जोर दे दिया है और यह बताया नहीं है कि जोर हमारा है न कि मूल पाठ का। सचमुच बड़ी क्षुब्ध करने वाली बात है! कोई भी पाठक यह सहज ही देख सकता है कि अपने पूरे उत्तर में, 'बोल्ड' अक्षरों द्वारा सर्वत्र (उद्धरणों में भी) अपने ही जोर को रेखांकित किया गया है और इसीलिए कहीं भी "जोर हमारा" और "जोर लेखक का" लिखने की 'स्टाइल' नहीं चलायी गयी है। बहुधा, यदि लेख में आये उद्धरणों में जोर वाले हिस्से न हों या उनकी चर्चा का कोई विशेष महत्त्व न हो या आप कोई दस्तावेज़ न लिख रहे हों तो लेखक ऐसी शैली अपना लेते हैं जो हमने चलायी है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उपरोक्त दोनों विकृतिकरण का जो आरोप आपने लगाया है, उनके न होने पर भी हमारे बुनियादी तर्क पर कोई फ़र्क नहीं पड़ रहा है। लेकिन आपको चूँकि इसी तरह की नुक़ताचीनी और घटिया आरोपों की आड़ में बुनियादी बात को दरकिनार करके क़ानूनची बुद्धिजीवियों और कम समझ वाले कार्यकर्ताओं को गफलत में डाल देना है, इसलिए आपने ऐसा करने की कोशिश की है।

इसी तरह की आपकी कुछ क़ानूनची-शैली में उठायी गयी आपत्तियाँ हैं, पर इनकी अलग से चर्चा करने पर कुछ और पृष्ठ खर्च करने के बजाय हम इनकी चर्चा वहीं करेंगे, जहाँ विशिष्ट सन्दर्भों में ये हवाले आये हैं।

‘मास पोलिटिकल पेपर’ (Mass Political Paper)

इस उपशीर्षक के अन्तर्गत आपने अपने पत्र में हमारे ऊपर सबसे पहले यह आरोप लगाया है कि हमारे मुताबिक़ 'मास पोलिटिकल पेपर' शब्द कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के शब्दकोश में होना ही नहीं चाहिए और यह कि हम इसे सामाजिक-जनवाद की अभिव्यक्ति मानते हैं।

यह सरासर एक ग़लतबयानी है। या तो आप अपने विरोधी की बात पढ़ते-सुनते समय हद दर्जे के मनोगतवादी हो जाते हैं या फिर आपकी यह मजबूरी है कि अपनी बातों को सिद्ध करने के लिए आप तथ्यों को तोड़ें-मरोड़ें। आइये, '**बिगुल**' के जून-जुलाई '99 अंक में पृ. 5-6 पर प्रकाशित आपके 6 मई '99 के पत्र और पृ. 6-7-8 पर प्रकाशित हमारे प्रत्युत्तर के सन्दर्भित हिस्सों को एक बार फिर देखें।

आपने अपने पत्र में (कॉलम 3, पैरा 3-4) में यह सवाल उठाया है कि हम '**बिगुल**' को भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों (या उनके एक ग्रुप) का मुखपत्र मानते हैं? आपके इस प्रश्न का हमने जो उत्तर दिया है उस पर फिर से गौर कीजिये। आपने 'पार्टी ऑर्गन' और 'मास पोलिटिकल पेपर' – इन दो प्रवर्गों को एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ा किया था और इस पर हमारा कहना था, " '**मास पोलिटिकल पेपर**' शब्द का इस्तेमाल सामाजिक जनवादियों की छिछोरी शैली में न करें। कम्युनिस्ट पार्टियों के '**मास पोलिटिकल पेपर**' उनके '**एजिटेशनल ऑर्गन**' हुआ करते हैं।"

बात को और स्पष्ट करें। आपका स्पष्ट कहना था (अब आप अपनी इस अवस्थिति में भी गोलमाल कर रहे हैं) कि एक पत्र या तो 'पार्टी ऑर्गन' हो सकता है या 'मास पोलिटिकल पेपर।' हमने इस सोच को सामाजिक जनवादी बताया था। देखिये, कितने सलीके और चतुराई से आपने तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा है। हमारा कहना है कि '**मास पोलिटिकल पेपर**' पार्टी का '**एजिटेशनल ऑर्गन**' हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। जैसेकि एक ट्रेडयूनियन का मुखपत्र या एक सोवियत का मुखपत्र भी '**मास पोलिटिकल पेपर**' की श्रेणी में ही आता है। पर वह '**पार्टी ऑर्गन**' नहीं होता। दूसरी

ओर, 'प्राव्दा' एक 'मास पोलिटिकल पेपर' था, पर वह एक 'एजिटेशनल पार्टी ऑर्गन' भी था। पार्टी का 'एजिटेशनल ऑर्गन' अपने आदर्श रूप में 'मास पोलिटिकल पेपर' ही हो सकता है, अब यह एक दीगर बात है कि किन्हीं प्रतिकूल या प्रारम्भिक स्थितियों में वह पत्र गैरकानूनी हो या उसका पाठक समुदाय सीमित हो अथवा किन्हीं अनुकूल या उभार की स्थितियों में, पत्र कानूनी हो या उसका बहुत बड़ा पाठक समुदाय हो। अपने पत्र के उसी हिस्से में हमने स्पष्टतः जोर देकर लिखा है, "प्राव्दा बोल्शेविकों का दैनिक समाचारपत्र था। वह पार्टी का मजदूरों के लिए निकाला जाने वाला 'एजिटेशनल ऑर्गन' था।" इतनी स्पष्टता के बावजूद आप हमारी बातों को तोड़-मरोड़कर जो मनमाना अर्थ निकालते हैं, उसका क्या मतलब निकाला जाये?

अपने इसी उपशीर्षक के अन्तर्गत आपने 'बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियाँ' शीर्षक से हर अंक में छपने वाली स्थायी सामग्री से यह पहला वाक्य उद्धृत किया है, "बिगुल व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा।" फिर आप सवाल उठाते हैं कि 'बिगुल' के स्वघोषित उद्देश्यों के हिसाब से क्या इसे एक 'मास पोलिटिकल पेपर' कहना ग़लत है? हमारा यह प्रतिप्रश्न है कि हमने ऐसा कहाँ कहा है? हमारा कहना यह है कि 'मास पोलिटिकल पेपर' एक व्यापक और ढीला (loose) प्रवर्ग है और इसे 'पार्टी ऑर्गन' के प्रवर्ग के आमने-सामने खड़ा करके सवाल पूछने के पीछे का बोध (perception) ग़लत है। जब हमने साफ़-साफ़ पिछले उत्तर में ही लिखा है कि "बिगुल मजदूर वर्ग के लिए निकाला जाने वाला 'एजिटेशनल ऑर्गन' है", तो स्पष्टतः हम इसे एक 'मास पोलिटिकल पेपर' मानते हैं। यूँ तो "श्रेणी-विभाजन प्रेम" की तोहमत आगे अपने पत्र में आप हमारे ऊपर ही लगा देते हैं, पर वस्तुतः 'प्रोपेगण्डा' और 'एजिटेशन' के बीच आप जिस तरह 'चीन की दीवार' खड़ी करने का शौक रखते हैं उसे देखते हुए यह भी स्पष्ट करना यहाँ ज़रूरी लगता है कि 'एजिटेशनल ऑर्गन' होने का लक्ष्य लेकर चलते हुए भी वस्तुगत स्थितियों के दबावों-तकाजों के नाते 'बिगुल' का जो स्वरूप सामने है वह (सीमित हदों तक) 'एजिट-प्रॉप ऑर्गन' का है।

आपने अपने 21 अगस्त के पत्र में ('मास पोलिटिकल पेपर' उपशीर्षक के अन्तर्गत) हमारे ऊपर आरोप लगाया है कि हम ज़बरदस्ती आपके मुँह में वे बातें ठूस रहे हैं जो आपने कही ही नहीं हैं और यह ग़लत आरोप लगा रहे हैं कि आप सीधे-सीधे क्रान्तिकारी विचारधारा और राजनीति के प्रचार के खिलाफ़ हैं जबकि आपने अपने 6 मई के पत्र के दूसरे-तीसरे पैराग्राफ़ में अपनी बात स्पष्ट कर दी है।

जनाब, आप फिर ग़लतबयानी करते हुए ग़लत आरोप लगा रहे हैं। अपने पूर्व-पत्र के दूसरे-तीसरे पैराग्राफ़ में सैद्धान्तिक तौर पर 'बिगुल' के घोषित उद्देश्य से आप दिखावटी सहमति ज़ाहिर करते हैं और मजदूर आन्दोलन के लिए ऐसे अख़बार की ज़रूरत भी बताते हैं, पर आपके ख़याल से (आन्दोलन के स्तर और ज़रूरत का ख़याल किये बिना आन्दोलन की आवश्यकताओं से बेमेल सामग्री लादते रहने के कारण) 'बिगुल' अपने घोषित उद्देश्यों को ही पूरा नहीं करता। आन्दोलन की आवश्यकताएँ क्या हैं और बिगुल की सामग्री बेमेल कैसे है? आप ही के उक्त पत्र में (बिगुल, जून-जुलाई '99, पृ. 5, चौथा कॉलम, पहला पैरा) आगे स्पष्टतः यह कहने की कोशिश की गयी है कि मजदूर आन्दोलन में समाजवाद के सीधे-सीधे प्रचार की गुंजाइश तब बहुत बढ़ जाती है जब समाजवादी बातों की ग्राह्यता बहुत अधिक होती है, जबकि भारत में आज इसके एकदम विपरीत स्थिति है... आदि-आदि। इसी पैराग्राफ़ में आपने हमारे ऊपर स्थान-काल की अनदेखी का आरोप लगाते हुए लेनिन का उद्धरण देते हुए यह भी कहा है कि रूस में आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में (और आपके ख़याल से भारत का मजदूर आन्दोलन चूँकि बहुत पीछे हटा है अतः प्रारम्भिक अवस्थाओं में जा पहुँचा है!) कम्युनिस्टों को प्रायः सांस्कृतिक कार्यों और आर्थिक कार्यों में ही जुटे रहना पड़ता था। आपके पत्र के इस हिस्से से क्या यह बात एकदम साफ़ नहीं है कि आप आज के भारतीय मजदूर आन्दोलन में "समाजवादी बातों" के सीधे-सीधे प्रचार के खिलाफ़ हैं, क्योंकि उनकी ग्राह्यता घट गयी है और यह कि आप आज सांस्कृतिक-आर्थिक कार्यों पर जोर की बात जैसा कुछ कहना चाहते हैं? तब क्या 'बिगुल' के घोषित उद्देश्य से पत्र के शुरू में दिखायी गयी आपकी सहमति फ़र्जी नहीं है?

दिलचस्प बात तो यह है कि ठोस हवालों-उदाहरणों से आपने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया है कि 'बिगुल' में मजदूर वर्ग के बीच सर्वहारा क्रान्ति, सर्वहारा वर्ग की पार्टी की अनिवार्यता और सर्वहारा क्रान्ति की विचारधारा के प्रचार के लिए जिस तरीक़े की सामग्री दी जाती है, वह मजदूर आन्दोलन की आज की ज़रूरतों से बेमेल कहाँ और किस प्रकार है? 'बिगुल' की 'फ़ाइल' के आधार पर यदि छपने वाली सामग्री का प्रवर्गीकरण किया जाये तो मोटे तौर पर इतने प्रवर्ग दीखते हैं : * विश्व पूँजीवाद आज दुनिया के विभिन्न हिस्सों में आर्थिक लूट और दमन का जो कुचक्र रच रहा है, उसपर विशिष्ट घटनाओं-प्रसंगों के सन्दर्भ में संक्षिप्त चर्चा * दुनिया के पैमाने पर और हमारे देश के पैमाने पर उदारीकरण-निजीकरण की नीतियाँ सर्वहारा वर्ग पर और पूरी जनता पर जो कहर बरपा कर रही हैं, उनकी सामान्य और विशिष्ट चर्चा * विश्व पूँजीवाद के तथा भारतीय पूँजीवाद के संकट की और क्रान्तिकारी विकल्प की चर्चा * अपने देश की बुर्जुआ राजनीति और अहम नीतियों-फ़ैसलों की चर्चा, मजदूर वर्ग को उसके फ़ौरी तथा दूरगामी कार्यभारों की याद दिलाना तथा इसी के लिए राज्यसत्ता, संसद, सरकार, समाज व्यवस्था आदि

के बारे में शिक्षा * देश के अलग-अलग हिस्सों में चल रहे मजदूर आन्दोलनों की चर्चा-विश्लेषण के बहाने शिक्षा और प्रचार-एजिटेशन * 'बिगुल' से जुड़े कार्यकर्ताओं से प्राप्त मजदूर आन्दोलनों और क्षेत्र-विशेष के मजदूरों की जीवन-स्थितियों पर रपटें * मजदूर पाठकों के पत्र-प्रतिक्रियाएँ-सुझाव * संसद, पूँजीवादी दलों, सरकार और राज्यसत्ता का, तथा फ़ासीवाद, अन्धराष्ट्रवाद आदि प्रवृत्तियों का भण्डाफोड़ और विश्लेषण * पूँजीवादी मीडिया का भण्डाफोड़ और विश्लेषण * दक्षिणपन्थी अवसरवाद, सुधारवाद, ट्रेडयूनियनवाद आदि का भण्डाफोड़-विश्लेषण * जयन्तियों-वर्षगाँठों के अवसर पर मजदूर वर्ग को दुनिया की सर्वहारा क्रान्तियों, सर्वहारा शिक्षकों की महान विरासत, मजदूर आन्दोलन के इतिहास से परिचित कराना * मार्क्सवादी क्लासिक्स से सरल शिक्षोपयोगी सामग्री छाँटकर और सर्वहारा वर्ग के महान नेताओं के लेखन से प्रासंगिक और उपयोगी लेखों/अंशों का नियमित प्रकाशन * स्त्री प्रश्न पर सुबोध सामग्री * रचनात्मक सर्वहारा साहित्य (कविताएँ, कहानियाँ आदि), * मजदूर वर्ग की विचारधारा, पार्टी और सर्वहारा क्रान्ति की अपरिहार्यता के बारे में वैचारिक लेख व टिप्पणियाँ... आदि-आदि।

यह एक संक्षिप्त खाका है। हमारी कोशिश इसी फ़्रेमवर्क के ज़रिये मजदूर वर्ग तक विचारधारात्मक-राजनीतिक सामग्री पहुँचाने की होती है। हाँ, यह तय है कि **अख़बार घोषित तौर पर मार्क्सवादी है**, पर सीधे-सीधे विचारधारात्मक सामग्री देने का काम इसके कुछ एक स्तम्भों द्वारा ही होता है। यह भी तय है कि अख़बार **मुख्यतः** उन्नत चेतना के मजदूरों को और **गौणतः** उससे नीचे के दरमियाने या औसत चेतना के मजदूरों को सम्बोधित करता है। इस अख़बार के सहारे शिक्षित कार्यकर्ता व उन्नत मजदूर मुँहजबानी प्रचार, गेट मीटिंगों, जनसम्पर्कों, पर्चों, छोटी-छोटी पुस्तिकाओं आदि के द्वारा औसत और निम्न चेतना के मजदूरों को शिक्षित करते हैं तथा इस प्रक्रिया में अपनी सांगठनिक कुशलता विकसित करते हैं। अख़बार से जुड़े ऐसे कार्यकर्ताओं तथा उन्नत मजदूरों के बीच से विकसित कार्यकर्ताओं का विकसित होता हुआ ताना-बाना पार्टी-निर्माण की इमारत खड़ी करने में निर्माणाधीन इमारतों के इर्दगिर्द खड़े बल्लियों के ढाँचे (लेनिन द्वारा निरूपित रूपक) का काम करे – यह हमारा बोध रहा है। इसमें हमारी सफलता-असफलता और सीमाएँ क्या रही हैं, यह एक अलग चर्चा का विषय है।

हम कहना यह चाहते हैं कि आप यदि ठोस उदाहरणों से यह बता पाते कि हम मजदूर आन्दोलन की साम्प्रतिक आवश्यकताओं से बेमेल सामग्री किस रूप में दे रहे हैं, तब शायद आपकी ठोस आलोचना हमें “सुधारने” में कोई ठोस भूमिका भी निभा पाती। पर अमूर्त, बिना किसी आधार के की जाने वाली बातों से यह उद्देश्य पूरा नहीं होता। हाँ, इसी प्रक्रिया में मजदूर अख़बार के स्वरूप, भूमिका आदि के बारे में आपके जो तर्क सामने आते हैं, उनमें हमें ख़तरनाक किस्म के भटकाव नज़र आते हैं।

एक बार फिर 'प्रोपेगैण्डा'/'एजिटेशन' का प्रश्न, एक बार फिर 'इस्क्रा', 'प्राव्दा' के उदाहरणों से सम्बन्धित विवाद

आपने अपने पहले पत्र में सवाल यह उठाया था कि 'बिगुल' भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का मुखपत्र है या यह एक 'मास पोलिटिकल पेपर' है? अब आप कह रहे हैं कि आपका आशय यह था कि 'बिगुल' का पाठक-समूह कौन है? यही तो हमारा कहना है कि आपका प्रश्न आपका आशय नहीं स्पष्ट कर रहा था बल्कि यह दर्शाता था कि 'पार्टी ऑर्गन्स' के स्वरूप और 'मास पोलिटिकल पेपर' के बारे में आप स्पष्ट नहीं हैं। इसीलिए हमने यह ज़रूरी समझा कि अलग-अलग प्रकृति के पार्टी ऑर्गन्स के सन्दर्भ में इतिहास के हवाले से संक्षिप्त चर्चा करते हुए अपनी बात स्पष्ट करें। लेकिन आपको फिर बुरा लग गया है और आपने हमारे ऊपर “**तरह-तरह के ऑर्गन पर एक लम्बा व्याख्यान दे डालने**” का आरोप लगाते हुए हमारी “**मौलिक प्रस्थापनाओं**” को (बिना उनका खण्डन या आलोचना किये) स्वीकारने से इन्कार कर दिया है। “सदाशयता” दिखाते हुए आपने बहस संचालित करने के लिए अपनी ओर से कोई प्रस्थापना देने से इन्कार कर दिया है, और 'प्रोपेगैण्डा-एजिटेशन' के बारे में **लेनिन** की ही दी हुई परिभाषा को आधार बनाने का हमसे अनुरोध करते हुए 'क्या करें' पुस्तक (पृ. 91) से उद्धरण दिया है।

अफ़सोस यह है कि हम आपके इस अनुरोध को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि आपने जो उद्धरण दिया है वह हमारी बहस के सन्दर्भ में सर्वथा अप्रासंगिक है और जहाँ आपने इस उद्धरण को छोड़ा है, उसका अगला ही वाक्य इस उद्धरण की अप्रासंगिकता और आपकी चालाकी को साफ़ कर देता है। 'क्या करें' (पृ. 91) से उद्धृत अंश को आप अपने “मनलायक अंश” पर अपना ज़ोर लगाते हुए इस वाक्य पर छोड़ देते हैं : “...इस घोर अन्याय के विरुद्ध आन्दोलनकर्ता जनता में असन्तोष और गुस्सा पैदा करने की कोशिश करेगा तथा इस अन्तरविरोध का और पूर्ण स्पष्टीकरण करने का काम वह प्रचारक के लिए छोड़ देगा।” हम इसके ठीक आगे का महज़ एक वाक्य और उद्धृत कर रहे हैं, “अतएव प्रचारक मुख्यतया **छपी हुई** सामग्री का उपयोग करता है और आन्दोलनकर्ता **जीवित** शब्दों का प्रयोग करता है।” (ज़ोर स्वयं लेनिन का)

लेकिन एजिटेशनल अख़बार तो **जीवित शब्द** नहीं, **छपी हुई सामग्री** होता है! ज़ाहिर है, लेनिन यहाँ एक विशेष सन्दर्भ

में 'प्रोपेगैण्डिस्ट' और 'एजिटेटर' संगठनकर्ताओं की विशिष्टताओं की चर्चा कर रहे हैं। इन्हें हूबहू उठाकर 'प्रोपेगैण्डा ऑर्गन' और 'एजिटेशनल ऑर्गन' पर चस्पाँ कर देना और फिर निहायत अनुभववादी ढंग से उन मानकों को लागू करने की जिद पकड़ लेना शायद कठमुल्लावादी मूर्खता होगी। एक 'एजिटेटर' अपने भाषण में जिस अन्तरविरोध पर लोगों के सामने बस एक विचार रखने का काम करेगा, उस पर एक 'एजिटेशनल पेपर' भी महज इतना ही नहीं करेगा। 'बिगुल' "जीवित शब्द" नहीं एक अख़बार है जो सीमित हद तक विश्लेषण भी प्रस्तुत ही करेगा।

चूँकि 'बिगुल' "व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक" की भूमिका की बात करता है अतः आपका कहना है कि "जिस दिन बिगुल व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षा और प्रचार को अपने उद्देश्य व ज़िम्मेदारी के बतौर गिनाना बन्द कर देगा, उस दिन हम 'बिगुल' से वे अपेक्षाएँ रखना बन्द कर देंगे जो एक 'मास पोलिटिकल पेपर' से रखी जाती हैं।" आगे 'बिगुल' को (स्वघोषित उद्देश्य के हिसाब से) 'प्राव्दा' जैसे पत्र की श्रेणी में रखते हुए आप लिखते हैं कि " 'इस्क्रा' का पाठक समूह कहीं से भी 'व्यापक मेहनतकश आबादी' नहीं थी। व्यापक मेहनतकश आबादी को 'एजिटेट' करना कहीं से भी 'इस्क्रा' की मूल ज़िम्मेदारी नहीं थी।" आपके कई मूल विभ्रमों की जड़ इसी प्रसंग में है। पहली बात तो यह कि जब हम 'बिगुल' के स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह "व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा।" और यह कि "बिगुल मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा" तो हम यहाँ 'बिगुल' के पाठक समुदाय की बात नहीं कर रहे हैं। व्यापक मेहनतकश अवाम के हर 'क्रॉस-सेक्शन' के बीच ऐसा कोई भी अख़बार सीधे-सीधे शिक्षक, प्रचारक, आह्वानकर्ता, संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता के रूप में नहीं जाता। ऐसा अख़बार संगठनकर्ताओं की टोली के माध्यम से और मज़दूरों के उन्नत संस्तरों तक पहुँचकर फिर उनके ज़रिये ही व्यापक मेहनतकश आबादी तक अपनी बात पहुँचा पाता है और व्यापक मेहनतकश अवाम को 'एजिटेट' करने का काम कर पाता है। यह बात हमारी अपनी मौलिक खोज नहीं बल्कि लेनिन की ही मूल प्रस्थापना है और पहले भी 'बिगुल' के पन्नों पर एकाधिक बार स्पष्ट की जा चुकी है।

आपने हमारे मुँह में अपनी बातें ठूँसने के लिए क्या-क्या कारस्तानियाँ की हैं, इसका एक उदाहरण देखिये। आपने लिखा है कि हमने 'प्राव्दा' और 'इस्क्रा' दोनों को 'एजिटेशनल' अख़बार बताया है और यह स्थापना दी है कि दोनों एक ही तरह के अख़बार थे। जबकि हमने स्पष्टतः लिखा है कि " 'इस्क्रा' भी बोल्शेविकों का मूलतः 'एजिटेशनल' या एक हद तक 'एजिट-प्रॉप' श्रेणी का 'ऑर्गन' ही था।" 'इस्क्रा' और 'प्राव्दा' के फ़र्क के बारे में आपने कई तरह से, बार-बार हमारी बातों को तोड़ा-मरोड़ा है। अतः इस मसले पर हम अपनी बात फिर से स्पष्ट करना ज़रूरी समझते हैं।

पहली बात तो यह कि एजिटेशनल/प्रोपेगैण्डा और पार्टी ऑर्गन्स के बारे में लम्बा भाषण देने का आरोप हमारे ऊपर मत लगाइये। 'इस्क्रा', 'प्राव्दा' के उदाहरणों की शुरुआत आपने की है तो फिर हमें अपनी बात स्पष्ट करने की इजाज़त तो आपको देनी ही चाहिए। दूसरी बात, हमने बार-बार स्पष्ट किया है कि दोनों प्रकार के ऑर्गन्स के बीच और उनके कार्यभारों के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती, पर आप हमारे ऊपर श्रेणी-विभाजन प्रेमी होने का आरोप थोप रहे हैं, जिसके कि आप स्वयं बुरी तरह शिकार हैं।

समग्र रूप में, लेनिन का यह कहना सही है कि "कम्युनिस्ट अख़बार को हमारा सर्वोत्तम आन्दोलनकर्ता (एजिटेटर) और सर्वहारा क्रान्ति का नेतृत्वकारी प्रचारक बनना चाहिए।" पर इसका मतलब यह नहीं कि सभी कम्युनिस्ट अख़बार बराबर-बराबर 'एजिटेटर' और 'प्रोपेगैण्डिस्ट' होते हैं। फिर भी मुख्य पहलू के हिसाब से श्रेणी-निर्धारण होता ही रहा है। रूस में भी हुआ था। 'इस्क्रा' और 'ज़ार्या' या 'प्राव्दा' और 'ज्वेज़्दा' के बीच के फ़र्क को तो आप भी स्वीकार करेंगे।

जब बोध के धरातल पर एक अखिल रूसी पार्टी अख़बार के रूप में 'इस्क्रा' के प्रकाशन की बात हुई थी तो उसका स्वरूप मूलतः 'एजिटेशनल' ही तय हुआ था और 'ज़ार्या' का मूलतः 'प्रोपेगैण्डा'। यह आप भी मानते हैं। बाद की परिस्थितियों में 'इस्क्रा' का जो स्वरूप बना वह एक 'एजिट-प्रॉप' ऑर्गन का था। पर यह स्थितियों की बात थी, न कि 'कहाँ से शुरुआत करें' और 'क्या करें' में प्रस्तुत बोध की ग़लती थी। 'इस्क्रा' के टारगेट रीडर ग्रुप कम्युनिस्ट और उन्नत मज़दूर ('मज़दूर बौद्धिक') थे, पर उनके माध्यम से 'इस्क्रा' व्यापक मेहनतकश आबादी के शिक्षक-प्रचारक की तथा संगठनकर्ता-आन्दोलनकर्ता की ऐतिहासिक भूमिका निभा रहा था। चूँकि ठोस स्थितियों में 'ज़ार्या' के कम ही अंक (तीन अंक) निकले, अतः 'इस्क्रा' की भूमिका 'प्रोपेगैण्डा' और 'पॉलिमिक्स' चलाने की भी बनी, पर वह साथ-साथ अपनी पूर्वनिर्धारित भूमिका का भी निर्वाह करता रहा। यानी, जैसाकि हमने पहले स्पष्ट किया है, 'इस्क्रा' का चरित्र कुल मिलाकर 'एजिट-प्रॉप' प्रकृति के ऑर्गन के रूप में सामने आया।

जब 'प्राव्दा' का प्रकाशन शुरू हुआ तो रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन एक उन्नत मंज़िल में पहुँच चुका था। पार्टी-निर्माण

व पार्टी-गठन का कार्य बहुत आगे की मंज़िल में पहुँच चुका था। मंशेविकों से पीछा छुड़ाकर बोल्शेविक अपनी अलग पार्टी बना चुके थे। मजदूरों की भारी आबादी कम्युनिस्टों की तरफ़ आकृष्ट हो चुकी थी। 'इस्क्रा' काल की अपेक्षा मजदूरों के तीनों संस्तरों की चेतना जगी हुई और उठान की स्थिति में थी तथा उन्नत और औसत संस्तर के मजदूरों की संख्या भी बहुत अधिक हो चुकी थी। तब एक ऐसे पत्र की ज़रूरत थी जो मुख्यतः उन्नत और फिर औसत चेतना के मेहनतकशों को सम्बोधित करते हुए भी जगी हुई मेहनतकश आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से तक पहुँचे। 'प्राव्दा' ने इसी काम को अंजाम दिया। इसलिए वह आदर्श रूप में एक 'मास पोलिटिकल पेपर' (एजिटेशनल ऑर्गन) के रूप में दिखायी पड़ता है। पर हम यहाँ एक बार फिर लेनिन के उस प्रसिद्ध उद्धरण की याद दिलाना चाहते हैं जिसमें उन्होंने 'प्राव्दा' को सड़क चलते उन लाखों आम मजदूरों के लिए, "जो अभी आन्दोलन के दायरे में नहीं खिंच पाये हैं", "बहुत महँगा, बहुत कठिन और बहुत बड़ा" बताया है और उनके लिए सस्ता, छोटा और व्यापक सर्कुलेशन वाला 'वेचेर्न्या प्राव्दा' प्रकाशित करने की बात की है। आप हमारे इस हवाले को एकदम गोल कर गये हैं और लम्बे उद्धरण के ज़रिये न जाने क्या सिद्ध करने के लिए 'प्राव्दा' की स्थापना और भूमिका की गाथा सुनाने लगे हैं।

आपका कहना है कि 'बिगुल' 'व्यापक मेहनतकश आबादी' के बीच शिक्षक-प्रचारक की अपनी स्वघोषित भूमिका के हिसाब से एक 'मास पोलिटिकल पेपर' है और इसकी भूमिका 'प्राव्दा' जैसी होनी चाहिए और इसके ऊपर लेनिन के उस लेख की बात लागू नहीं होती जिसमें उन्होंने मजदूर अख़बार का मुख्य 'टारगेट रीडर ग्रुप' उन्नत संस्तर के मजदूर को माना है। लेनिन की वह बात 'इस्क्रा' जैसे पत्र पर ही लागू होती है।

हम जो बताने की कोशिश कर रहे हैं वह यह कि आप बलपूर्वक मनमाने मानक निर्धारित करके 'बिगुल' पर 'प्राव्दा' का फ़्रेम थोप रहे हैं। यँ तो ऐतिहासिक दौरों के बीच की तुलना भी हर तुलना की तरह लँगड़ी होती है, पर फिर भी जिस हद तक तुलना सम्भव है, उस हद तक करने पर यही कहा जा सकता है कि भारत का क्रान्तिकारी वामपन्थी आन्दोलन आज वैसे ही कार्यभारों के दौर में है जैसाकि 'इस्क्रा' के दौर में था। किसी भी तरह से हम वैसे दौर में नहीं हैं जो 'प्राव्दा' का दौर था। स्वयं आप ही के लम्बे उद्धरण में 'प्राव्दा' के जिस चरित्र और उसके जिन कामों की चर्चा है, वे किसी भी तरह से आज हमारे सामने नहीं हैं। आज कुछ वैसे ही कार्यभार ज़रूर हमारे सामने हैं जिन्हें अंजाम देने के लिए 'इस्क्रा' जैसे एक अख़बार की योजना लेनिन ने प्रस्तुत की थी। पर कोई भी तुलना इतनी हूबहू नहीं होती कि किसी चीज़ की नक़ल करने की कोशिश की जाये। इतिहास से बोध और धारणा के धरातल पर सीखा जा सकता है न कि अन्धानुकरण किया जाता है। आज हमारे देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच गम्भीर सैद्धान्तिक-वैचारिक बहस चलाने के लिए और उन्नत संगठनकर्ताओं को सामग्री मुहैया कराने वाले मंच (ऑर्गन्स) भी मौजूद हैं और ऐसे पत्र निकालने की स्थितियाँ भी हैं – क़ानूनी भी व इसके विपरीत भी। अतः 'इस्क्रा' को पूर्व निर्धारित स्वरूप से अलग जितने काम हाथ में लेने पड़े थे, उतना, ज़रूरी नहीं कि आज भी लेना पड़े। 'बिगुल' को 'मास पोलिटिकल पेपर' कहने का यह अर्थ लेना यान्त्रिकता होगी कि यह व्यापक औसत चेतना के मजदूरों को मुख्यतः सम्बोधित हो। 'मास पोलिटिकल पेपर' एक ढीला शब्द है। 'बिगुल' इन अर्थों में 'मास पोलिटिकल पेपर' है कि इसमें ऐसी सामग्री भी रहती है और पर्याप्त रहती है, जिसके बारे में बताकर कार्यकर्तागण इसे कारख़ाना गेटों, मजदूर इलाक़ों, रेलों-बसों आदि में बेच लेते हैं और फ़ैक्टरी सम्बन्धी आर्थिक भण्डाफोड़ से लेकर देश की बुर्जुआ राजनीति तक के भण्डाफोड़ व आन्दोलनों की रपटों को औसत चेतना वाले पढ़े-लिखे मजदूर भी दिलचस्पी के साथ पढ़ते हैं और शिक्षित होते हैं। पर उन्हीं अंकों में कुछ ऐसे भण्डाफोड़-विषयक लेख और ऐसे विश्लेषण या ऐसे सरल सैद्धान्तिक लेख भी होते हैं जो उन्नत चेतना वाले मजदूरों और आम कम्युनिस्ट क़तारों के लिए होते हैं और जो मजदूर अध्ययन मण्डलों में चर्चा और विमर्श के लिए सामग्री और दिशा मुहैया करने का काम करते हैं।

हालाँकि अपनी सीमाओं-क्षमताओं के अपरिहार्य दबावों के चलते 'बिगुल' का भी जो स्वरूप बना है वह 'एजिट-प्रॉप' प्रकृति का है, पर इसका मुख्य पहलू एक 'एजिटेशन ऑर्गन' का ही है जो सर्वोपरि तौर पर अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों को (और कम्युनिस्ट क़तारों को) सम्बोधित करता है और फिर मुख्यतः उनके माध्यम से व्यापक मेहनतकश आबादी को 'एजिटेट' करता है, शिक्षित करता है।

'टारगेट रीडर ग्रुप' का सवाल बनाम व्यापक मेहनतकश आबादी के शिक्षक होने का सवाल : एक काल्पनिक विसंगति – एक दिग्भ्रमित समझ

'क्या राजनीति देते समय अख़बार को पाठक-समूह की चेतना का ख़याल रखना चाहिए?' – इस उपशीर्षक के अन्तर्गत नसीहत देते हुए आप लिखते हैं – "बिगुल की समस्या यह है कि एक ओर तो 'बिगुल' अपना 'टारगेट रीडर ग्रुप' व्यापक मेहनतकश आबादी को मानता है, दूसरी ओर अपने सम्पादकीय या अपने जवाब में 'बिगुल' के सम्पादक, अख़बार

का 'टारगेट रीडर ग्रुप' अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों को परिभाषित करते हैं। यह एक विसंगतिपूर्ण अवस्थिति है।”

साथी, **विसंगति हमारी अवस्थिति की नहीं आपकी समझ की है।** आपकी समस्या यह है कि आप समझते हैं कि एक ऐसा अख़बार सिर्फ़ अपने 'टारगेट रीडर ग्रुप' का ही शिक्षक होता है, या सिर्फ़ उसी के बीच प्रचारक-संगठनकर्ता की भूमिका निभाता है। 'टारगेट रीडर ग्रुप' का निर्धारण और व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच भूमिका – दोनों दो चीज़ें हैं। जैसाकि हमने स्पष्ट किया है, आज के दौर में ऐसे एक अख़बार का 'टारगेट रीडर' सबसे पहले उन्नत चेतना वाले मजदूरों का अग्रणी संस्तर ही है (उसके बाद एक हद तक औसत चेतना के मजदूरों का दूसरा संस्तर भी होगा)। फिर ऐसे किसी अख़बार की राजनीति उन्नत चेतना वाले अग्रणी मजदूरों और कार्यकर्ताओं के माध्यम से – भाषणों, मुँहामुँही प्रचारों, पर्चों, नारों आदि में ढलकर व्यापक मजदूर आबादी तक पहुँचती है। इस रूप में ऐसा एक मजदूर अख़बार व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच शिक्षक-प्रचारक की भूमिका निभाने लगता है। **'बिगुल'** के पन्नों पर हम पहले भी इस लेनिनवादी धारणा को स्पष्ट कर चुके हैं कि मजदूर वर्ग का राजनीतिक अख़बार संगठनकर्ता की भूमिका निभाता है संगठनकर्ता के ज़रिये, आन्दोलनकर्ता की भूमिका निभाता है आन्दोलनकर्ता के ज़रिये और प्रचारक की भूमिका निभाता है प्रचारक के ज़रिये।

1999 का भारतीय मजदूर आन्दोलन 1899 के रूसी मजदूर आन्दोलन से आगे है या पीछे, इस मसले को छोड़ भी दें, या यह भी मान लें कि पीछे है, तो भी इसमें उन्नत चेतना वाले मजदूरों का एक संस्तर, औसत चेतना के मजदूरों का दूसरा संस्तर और निम्न चेतना के मजदूरों का निचला संस्तर अवश्य ही होगा; चाहे इन संस्तरों की चेतना लेनिन द्वारा बताये गये 1899 के रूसी मजदूरों के उपरोक्त तीनों संस्तरों की चेतना से क्रमशः भले ही मेल न खाती हो। पर लेनिन की इतनी बात ज़रूर हर हाल में यहाँ भी लागू होती है कि मजदूरों का जो उन्नत संस्तर समाजवाद के विचारों को अपेक्षाकृत अधिक तेज़ी के साथ और अधिक आसानी के साथ अपनाता है, उसे ही मजदूर वर्ग के बीच विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार, शिक्षा, भण्डाफोड़ और एजिटेशन की कार्रवाई चलाने वाला कोई भी मजदूर अख़बार अपना प्रमुख 'टारगेट रीडर ग्रुप' बनायेगा और फिर उनके माध्यम से व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच राजनीतिक शिक्षक-प्रचारक की भूमिका निभायेगा।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए आप हमारी एक और “विसंगति” की ओर इंगित करते हैं। आपके अनुसार, हम इसे एक क्रान्तिकारी धड़े का अख़बार बताते हैं जबकि **'बिगुल'** के वितरक साथी इसे **'बिगुल मजदूर दस्ता'** का अख़बार बताते हैं। इससे आप नतीजा निकालते हैं कि यह “जनसंगठन की चेतना के स्तर का अख़बार” है और हम “पार्टी की चेतना का अख़बार” कहकर घालमेल कर रहे हैं। क्या ख़ूब तर्क है! यानी आप अख़बार के चरित्र का फ़ैसला वितरक साथी के शब्दों से करते हैं, अख़बार पढ़कर नहीं। आप खण्डन-मण्डन का अन्धा बना देने वाला जोश त्यागकर ज़रा सोचिये। यदि कोई 'एजिटेशनल' (या 'एजिट-प्राप') प्रकृति का कानूनी अख़बार अघोषित 'ऑर्गन' के तौर पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के किसी धड़े की ओर से निकाला जाये तो सड़क पर उसका पूरा परिचय क्यों और किस रूप में दिया जाना चाहिए? आप जैसे समझदार साथियों को अख़बार की प्रकृति का फ़ैसला अख़बार की राजनीति की दिशा के आधार पर करना चाहिए न कि वितरकों का “इण्टरव्यू” लेकर। बहस के इस प्लेटफ़ार्म की जो सीमा है, उसकी याद दिलाते हुए यहाँ हम आपकी दिवालिया समझ और कुतर्क के बारे में बस इतना ही इंगित कर सकते हैं। वैसे आप यहाँ भी तथ्यों को तोड़-मरोड़ रहे हैं। हमारी जानकारी के मुताबिक, हमारे वितरक साथी यह स्पष्ट बताते हैं कि यह अख़बार अमुक-अमुक उद्देश्यों-ज़िम्मेदारियों को पूरा करने के लिए निकलता है और इसे वे लोग निकालते, छापते-बाँटते हैं जो इन उद्देश्यों-कार्यभारों के बाबत एकमत हैं। **'बिगुल'** के प्रचारकों-वितरकों-संवाददाताओं के दस्तों को **'बिगुल मजदूर दस्ता'** कहा जाता है। बहरहाल, **बिगुल** की कई प्रतियाँ उत्साह और वर्ग-भावनावश कितने ही आम और औसत चेतना के मजदूर भी अपने कारख़ानों-बस्तियों में बाँटने ले जाते हैं और वे यदि इसे **'बिगुल मजदूर दस्ता'** का 'ऑर्गन' भी बता दें तो इससे कुछ तय नहीं होता। दूसरे, आप जब यह कहते हैं कि हम **'बिगुल'** को “पार्टी की चेतना का अख़बार” कहते हैं तो फिर अन्धेगदी मचाते हुए हमारे मुँह में अपनी मनमानी बात ठुँसते हैं। हमने **'बिगुल'** को मजदूर आबादी के लिए निकाला जाने वाला क्रान्तिकारी राजनीतिक अख़बार कहा है जो 'एजिटेशनल' या 'एजिट-प्राप' प्रकृति का 'ऑर्गन' है, जिसका स्वरूप एक हद तक एक 'मास पोलिटिकल पेपर' का है और जो मुख्यतः वर्ग-सचेत, उन्नत राजनीतिक चेतना वाले मजदूरों को सम्बोधित है। किसी पार्टी या ग्रुप की ओर से उन्नत मजदूरों व आम क़तारों के लिए निकाले जाने वाले अख़बार को आप “पार्टी की चेतना का अख़बार” जान-बूझकर कह रहे हैं या मूर्खतावश, यह तो आप ही जानें!

और आप यहाँ भी नहीं रुकते। आपका तर्क चरम भोंडेपन के शिखर पर पहुँचकर ही दम लेता है। आगे आप फ़रमाते हैं कि “**'बिगुल'** के वितरक साथी **'बिगुल'** को केवल अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों को देने के बदले हर आम मजदूर को पकड़ा देते हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं जो **'बिगुल'** में प्रयुक्त मार्क्सवादी शब्दावली के 90 प्रतिशत से अनभिज्ञ होते हैं, उसमें कही गयी बातों की तो बात ही क्या की जाये?” आप हमारी मजबूरी क्यों नहीं समझते? हमारे पास दरअसल आप वाली वो जादुई ऐनक नहीं है जिसे नाक पर टिकाकर घर बैठे मजदूरों की शक्ति देखते ही आप उनकी चेतना

का स्तर नाप लेते हैं। हम तो हर जगह सामने पड़ने वाले मजदूरों को अख़बार के बारे में बताकर अख़बार ख़रीदने के लिए कहते हैं, यह जानते हुए कि सभी पूरा 'बिगुल' नहीं पढ़ते और कुछ तो एकदम नहीं पढ़ते। पर इसी प्रक्रिया में 'बिगुल' उन्नत चेतना वाले कुछ थोड़े-से मजदूरों तक भी पहुँच जाता है और कुछ उनसे थोड़ा-नीचे, थोड़ा-बहुत पढ़-समझ लेने वाले औसत मजदूरों तक भी। बहुतेरे ऐसे मजदूर साथी हैं जो 'बिगुल' से जुड़े कार्यकर्ताओं की सहायता से 'बिगुल' पढ़ते हैं। दूसरी बात यह कि आपने 'बिगुल' में प्रयुक्त मार्क्सवादी शब्दावली का जो हौवा खड़ा किया है, वह भी आपकी मनोगत धारणा है। आन्दोलनों की रपटें-विश्लेषण, बुर्जुआ राजनीति-क़ानून-मीडिया या फ़ैक्टरी की स्थितियों के भण्डाफोड़ 'बिगुल' में जिस भाषा में छपते हैं और मजदूर साथियों के जो पत्र छपते हैं – उन्हें बड़े पैमाने पर मजदूर पढ़ते हैं और प्रतिक्रिया देते हैं। मार्क्सवादी क्लासिक्स से हम जो सामग्री देते हैं या क्रान्ति की समस्याओं पर जो लेख देते हैं, वह 'बिगुल' का एक छोटा हिस्सा होता है और उसमें ज़रूर जटिल मार्क्सवादी शब्दावली भी होती है। आम रपटों-लेखों में विवरण के साथ जो मार्क्सवादी राजनीतिक शब्दावली आती है, उन्हें मजदूर पाठक अपने अनुभव के आधार पर समझते हैं और एक क्रमिक प्रक्रिया में शिक्षित होते जाते हैं।

यहाँ पहला मुद्दा यह याद रखने का है कि अख़बार सबसे पहले उन्नत चेतना वाले मजदूरों को सम्बोधित है और दूसरी बात यह समझने की है कि अख़बार का काम सिर्फ़ अपने पाठक की चेतना तक नीचे उतरना या उसके पीछे चलना नहीं बल्कि थोड़ा नीचे उतरकर (सम्प्रेषण की दृष्टि से) फिर पाठक की चेतना को ऊपर उठाना होता है।

हमारा ख़याल है कि 'किसके लिए' के सवाल पर हम काफ़ी साफ़ हैं। यह तो आपकी फ़ितरत है कि कभी अमूर्त किताबी मानकों के सहारे तो कभी भोंड़े अन्धानुकरणवाद के सहारे अपनी बातें कहने की कोशिश कर रहे हैं और यह भी स्पष्ट नहीं कर पा रहे हैं कि आप कहना क्या चाह रहे हैं। जो आप कहते हैं उसे स्वयं ही काट दे रहे हैं या जो कहना चाह रहे हैं, कह नहीं पा रहे हैं। आपकी मनोगतता का ही एक सबूत यह भी है कि हमारे "हिरावलपन्थ" की इतनी आलोचना कर चुकने के बाद आप अब हमसे 'बिगुल' की फ़ाइल माँग रहे हैं ताकि और ठोस अध्ययन करके हमारी "मदद" कर सकें। ऐसी मदद करने वालों से खुदा बचाये। हमारी नेक सलाह है कि आप पहले अपनी खुद की मदद करें, वरना शायद खुदा भी आपकी मदद नहीं कर सकता।

पार्टी-निर्माण व पार्टी-गठन के बारे में आपकी "अचूक" द्वन्द्ववादी समझ!!

पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में हमारी "गैर द्वन्द्वात्मक समझ" को बेनकाब करते हुए वास्तव में आपने अपनी "द्वन्द्वात्मक समझ" की ही अनूठी बानगी पेश की है।

हमेशा की तरह यहाँ भी शुरुआत आप हमारी बातों को तोड़ने-मरोड़ने से करते हैं। आपने 'बिगुल', जून-जुलाई '99 अंक में पृष्ठ 5 पर दूसरे-तीसरे पैराग्राफ़ में पार्टी-निर्माण व पार्टी-गठन के बारे में प्रस्तुत हमारी बातों को दो लाइन के इस "ज्यामितीय समीकरण" में अद्भुत प्रतिभाशाली ढंग से समेट दिया है :

प्रचारक → ज़ार्या ज्वेज़्दा → पार्टी-गठन
आन्दोलनकर्ता → इस्क़्रा प्राव्वा → पार्टी-निर्माण

इसके द्वारा आपने साबित कर दिया है कि हम किस हद तक गैर द्वन्द्वात्मक हैं और श्रेणी-विभाजन प्रेमी हैं। आपने अपना उपरोक्त भयंकर मज़ाक़िया नतीजा हमारे मुँह में ढूँढ़ने के लिए "प्रधानतः" और "मुख्यतः" जैसे हमारे द्वारा प्रयुक्त सभी विशेषणों को उड़ा दिया है तथा पार्टी-निर्माण व गठन के पहलुओं की अविभाज्य द्वन्द्वात्मकता के बारे में बार-बार कही गयी हमारी बातों को पहले ही खिल्ली उड़ाकर ख़ारिज़ कर दिया है। पर आपने लगे हाथों पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन के बारे में अपने घोर सामाजिक जनवादी बोध एवं धारणा को भी एकदम नंगा कर दिया है।

हम अपनी 'पोज़ीशन' एक बार फिर स्पष्ट करेंगे और तब आपकी 'पोज़ीशन' की चर्चा करेंगे। बोल्शेविज़्म के सांगठनिक उसूलों की हमारी समझ के हिसाब से, एक क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी का बनना और विकास करना एक सतत् जारी प्रक्रिया है और पार्टी-गठन तथा पार्टी-निर्माण उसके दो पहलू हैं।

कुछ लोग विचारधारा की अपनी समझ के आधार पर जब देश-विशेष की परिस्थितियों की एक समझ बनाते हैं, कामों की एक आम दिशा तय करते हैं और मान लीजिये कि एक छोटा-मोटा ग्रुप का ढाँचा बनाकर काम शुरू करते हैं, तो वे पार्टी खड़ी करने की दिशा में आगे बढ़ते हुए पार्टी-गठन की प्रक्रिया को अंजाम दे रहे होते हैं। लेकिन यह जो प्रारम्भिक ढाँचा खड़ा होता है, यह एक वास्तविक क्रान्तिकारी सर्वहारा ढाँचा तभी बन सकता है जब वह ग्रुप सामाजिक प्रयोगों में दिशा की अपनी समझ को ठोस रूप देने व सत्यापित करने का काम करे, बुनियादी वर्गों को संगठित करते हुए लाइन को विकसित करे, बुनियादी वर्गों के बीच से पार्टी-भर्ती करे, जन संगठनों में संगठन की कोशिकाओं का जाल बिछाते हुए आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों की प्रक्रिया में अपनी लाइन को सत्यापित-विकसित करे तथा अपने कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करे एवं माँजे-तपाये। यह हुआ पार्टी

खड़ी करने की दिशा में आगे बढ़ते हुए पार्टी-निर्माण की प्रक्रिया को अंजाम देना, जो पार्टी-गठन की प्रक्रिया के साथ-साथ चलती है।

क्रमशः उन्नत सामाजिक प्रयोगों के साथ-साथ, उसी के आधार पर (यानी पार्टी-निर्माण के पहलू की मजबूती के आधार पर) किसी एक ग्रुप या संगठन की राजनीतिक लाइन विकसित होती है, अन्य बिरादर कम्युनिस्ट ग्रुपों-संगठनों से 'पॉलिमिक्स' की क्रिया (सामाजिक प्रयोगों के साथ-साथ) जारी रहती है जिसका एक फ़ैसलाकुन मुक़ाम तब आता है जब विचारधारात्मक-राजनीतिक-सांगठनिक लाइन की एकता के आधार पर, देश-विशेष के स्तर पर एक एकीकृत सर्वहारा पार्टी अस्तित्व में आती है।

पर सही मायनों में एक सर्वहारा चरित्र की पार्टी तभी खड़ी हो सकती है, जबकि सही लाइन के साथ-साथ नेतृत्व और कृतारों का 'कम्पोजिशन' भी सही हो और यह तभी हो सकता है जब उपरोक्त वर्णित प्रक्रिया के साथ-साथ बुनियादी वर्गों के बीच क्रान्तिकारी प्रयोगों के दौरान पार्टी के सर्वहारा क्रान्तिकारी चरित्र के सुदृढीकरण का – उसके नेतृत्व और कृतारों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण व सुदृढीकरण का – काम लगातार जारी रहा हो तथा सर्वहारा वर्ग व अन्य बुनियादी वर्गों के बीच प्रचार-शिक्षा-आन्दोलन व संगठन का काम करते हुए उनके बीच से बड़े पैमाने पर, लगातार, पार्टी-भर्ती की गयी हो। यह पार्टी-निर्माण का पहलू है, जिसके कमज़ोर होने पर यदि कोई एकीकृत सर्वहारा पार्टी गठित भी हो जाये तो वह एक कमज़ोर चरित्र वाली पार्टी होगी जो कालान्तर में अपना रंग भी बदल सकती है।

ज़ाहिर है कि पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण की दोनों साथ-साथ जारी, अन्तर्सम्बन्धित प्रक्रियाओं में ज़ोर कभी एक पहलू पर अधिक होता है, तो कभी दूसरे पर अधिक होता है, पर दोनों साथ-साथ ही चलती हैं।

जब आप चकित होकर पूछते हैं कि जो पार्टी अभी गठित ही नहीं हुई, उसके निर्माण का सवाल कहाँ से पैदा हो गया? – तो आपका सामाजिक-जनवादी बोध एकदम अवक्षेपित होकर सतह पर उतरा आता है। आपके ख़याल से जब पार्टी-गठन का काम (यानी देश स्तर पर एक एकीकृत पार्टी बनने का काम) हो जाता है तभी पार्टी-निर्माण का काम (यानी सामाजिक प्रयोगों में उतरकर तपने-निखरने का काम) शुरू होता है। हूबहू यही सोच कभी हम लोगों के कुछ सहयात्रियों ने प्रस्तुत की थी जिन्होंने 1989 में एक अलग राह पकड़ ली और अब सामाजिक-जनवादी रास्ते पर काफ़ी दूर निकल गये हैं। ऐसी कोई भी पार्टी जो गठन के काम को पूरा करने के बाद ही निर्माण का काम शुरू करती है, वह केवल बुद्धिजीवियों की पार्टी – केवल एक "पैस्सिव रैडिकल" पार्टी ही हो सकती है। लेनिन और उनके सहयोगी मार्क्सवाद के आधार पर अपने देश की स्थितियों की एक प्रारम्भिक समझ के आधार पर जब मजदूरों के अध्ययन-मण्डलों के रूप में शुरुआती ढाँचे खड़ा कर रहे थे – तो उनके काम का यह पहलू पार्टी-गठन का काम था। साथ ही वे मजदूरों के बीच से कम्युनिस्ट तैयार कर रहे थे, हड़ताली पर्चे लिख रहे थे और मजदूरों के संघर्षों में भागीदारी करते हुए नेतृत्व को और कार्यकर्ताओं को तपा-निखार रहे थे – यह पहलू पार्टी-निर्माण का पहलू था। लाइन पर चलने वाली सैद्धान्तिक बहसों का पहलू पार्टी-गठन का पहलू था और उसी से जुड़ा हुआ, सही लाइन को सत्यापित करने वाला सामाजिक प्रयोगों का पहलू पार्टी-निर्माण का पहलू था।

जिस तरह से आप यह समझते हैं कि पार्टी-गठन का काम हो जाने के बाद ही पार्टी-निर्माण का काम शुरू हो पाता है, उसी तरह आप यह समझते हैं कि जब एक बार देश स्तर पर एक पार्टी गठित हो जाती है तो फिर पार्टी-गठन का काम पूरा हो जाता है और आप हमसे पूछते हैं कि "हमारी ही दी हुई परिभाषा के अनुसार", जब पार्टी का गठन पहले ही हो चुका था तो 'ज्वेज़्दा' जैसा पत्र क्या कर रहा था जोकि एक प्रचारक पत्र था और पार्टी-गठन के कार्य से जुड़ा था।

'ज्वेज़्दा' जैसे पत्र की भूमिका पर चर्चा तो आगे करेंगे, पहले पार्टी-गठन विषयक आपके भ्रान्त बोध पर चर्चा की जाये। जब देश-स्तर पर एक पार्टी गठित हो जाती है, उसके बाद भी एक पार्टी जब तक वर्ग-संघर्ष में रहती है तब तक वह किसी न किसी रूप में विश्रुंखलित और पुनर्गठित होती रहती है। पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष 'पॉलिमिक्स' के रूप में लगातार चलता रहता है और पूरी तरह उभर चुके, लाइलाज गैरसर्वहारा तत्वों को – पार्टी के भीतर के बुर्जुआ तत्वों को – समय-समय पर अलग करके पार्टी एक तरह से अपना पुनर्गठन करती रहती है। यह पार्टी-गठन की वह क्रिया है जो पार्टी के गठित हो जाने के बाद भी जारी रहती है – यहाँ तक कि राज्यसत्ता हाथ में आने के बाद भी, जैसेकि त्रात्स्की के गिरोह को अलग करके स्तालिन काल में बोल्शेविक पार्टी ने और सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान पूँजीवादी पथगामियों को शिकस्त देकर चीनी पार्टी ने अपने को नये धरातल पर फिर से गठित किया।

जब हम अलग-अलग कोटि के 'पार्टी-ऑर्गन्स' की बात पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण के सम्बन्ध में कर रहे थे तो बार-बार याद दिला रहे थे कि इन्हें रूढ़ श्रेणियों में बाँटकर देखने के बजाय एक या दूसरे पहले की प्रधानता के रूप में देखा जाना चाहिए। फिर भी आपने उलटकर हमारे ऊपर ही श्रेणी-विभाजन प्रेमी का आरोप लगा दिया है।

एक 'प्रोपेगैण्डा ऑर्गन' भी संगठन की उन्नत कृतारों में लाइन की समझ देकर उन्हें सामाजिक प्रयोगों के लिए तैयार करता

है अतः वह भी पार्टी-निर्माण के कार्यभार को अंजाम देता है, पर चूँकि इस कोटि के ऑर्गन **मुख्यतः** विचारधारा, राजनीति और स्थितियों के गम्भीर विश्लेषण और 'पॉलिमिक्स' के काम को अंजाम देते हैं, अतः वे **मुख्यतः** पार्टी-गठन के पहलू से जुड़ते हैं। दूसरी ओर, 'एजिटेशनल ऑर्गन' **मुख्यतः** संगठन की लाइन को क़तारों और उन्नत मजदूरों तक पहुँचाकर उन्हें सामाजिक प्रयोगों में उतरने के लिए तैयार करते हैं तथा उनके ज़रिये आम जनता तक कार्यभारों की समझ पहुँचाकर उसे सक्रिय करते हैं, अतः इनका जुड़ाव **मुख्यतः** पार्टी-निर्माण के पहलू से होता है। ध्यान रखिये कि फिर हमारी बात का जवाब देते हुए **मुख्यतः** विशेषण को उड़ाकर आप हमारी बात का विकृतिकरण मत कर दीजियेगा।

शुरू में जब 'ज़ार्या' और 'इस्क्रा' की योजना क्रमशः एक 'प्रोपेगैण्डा' और 'एजिटेशनल ऑर्गन' के रूप में बनी थी तो उनके द्वारा पार्टी-गठन और पार्टी-निर्माण के कार्यभारों को इसी रूप में अंजाम दिया जाना था। पर परिस्थितियाँ ऐसी रहीं कि 'ज़ार्या' के महज़ तीन ही अंक निकल सके और 'प्रोपेगैण्डा पॉलिमिक्स' के एक मंच के रूप में भी 'इस्क्रा' की महत्वपूर्ण भूमिका के नाते उसका स्वरूप एक 'एजिट-प्रॉप ऑर्गन' का बना और उसकी भूमिका पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन के दोनों कामों में बनी। अगले दौर में 'ज्वेज़्दा' जैसे पत्र का काम मुख्यतः लाइन के प्रश्न पर गम्भीर व्याख्या-विश्लेषण व पॉलिमिक्स का बना जोकि उस दौर में मुख्यतः पार्टी-गठन के कार्यभार से जुड़ता था। 'प्राव्दा' की भी इस काम में महत्वपूर्ण भूमिका थी, फिर भी एक 'एजिटेशनल ऑर्गन' (पार्टी के 'मास पोलिटिकल पेपर') के रूप में वह **मुख्यतः** आम क़तारों व उन्नत मजदूरों तक 'ज्वेज़्दा' के कार्यक्रम को पहुँचा रहा था और फिर उनके माध्यम से व्यापक मेहनतकश आबादी को वर्ग संघर्ष के लिए जागृत-संगठित कर रहा था, अतः उसका कार्यभार मुख्यतः पार्टी-निर्माण के पहलू से जुड़ा हुआ था। अन्त में फिर आपसे अनुरोध कर दें कि हम यहाँ इन पत्रों के कार्यभारों के मुख्य पहलू की बात कर रहे हैं न कि कोई रूढ़ श्रेणीबद्ध सूत्रीकरण पेश कर रहे हैं, अतः मॉडलों के अन्धानुकरण की अपनी प्रवृत्ति के चलते फिर कोई "ज्यामितीय सूत्रीकरण" हमारे ऊपर मत थोप दीजियेगा।

पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन के बारे में आपका बोध और धारणा पूरी तरह सामाजिक जनवादी है। आपने सही कहा है कि यहाँ सवाल जनदिशा का सवाल है और यहाँ भी यही बात सामने आती है कि आप की जनदिशा की समझ भी सामाजिक जनवादी है।

आप 1899 के रूस के नहीं 1999 के भारत के 'क्रीडो' मतावलम्बी हैं!

हमने आपको 1999 के भारत के 'क्रीडो' मतावलम्बी कहा है और आपका कहना है कि आरोप लगाने का हमारा तरीका सतही, छिछला और ओझों-सोखों जैसा है। इसके बाद आपने 'क्रीडो' मत के छह "चारित्रिक लक्षणों" का उल्लेख लेनिन के ऐतिहासिक लेख 'ए प्रोटेस्ट बाइ रशियन सोशल डेमोक्रेट्स' के आधार पर किया है और हमें "चुनौती" दी है कि हम आपके भीतर उन छह "चारित्रिक लक्षणों" को ढूँढ़ निकालें। लेकिन हम ऐसा मूर्खतापूर्ण आग्रह पूरा नहीं करेंगे।

आपने 'क्रीडो मत' की चारित्रिक अभिलाक्षणिकता नहीं, 'क्रीडो' मत के अर्थवाद की छह प्रमुख अभिव्यक्तियों की चर्चा की है। सर्वहारा आन्दोलन में जब कोई भी विजातीय प्रवृत्ति या धारा बार-बार सिर उठाती है तो उसकी अभिव्यक्तियाँ, यहाँ तक कि कुछ गौण चारित्रिक लक्षण भी बदल जाते हैं। हाँ, उनकी सारवस्तु वही रहती है। जैसे खुश्चेव को "काउत्स्की का चेला" और "काउत्स्कीपन्थी" कहा गया, पर उसके संशोधनवाद के रूप व अभिव्यक्तियाँ हूबहू काउत्स्की जैसी ही नहीं थीं। ऐसा हो भी नहीं सकता।

निस्सन्देह आप "क्रीडो मतावलम्बी" ही हैं पर 1899 के रूस के नहीं बल्कि 1999 के भारत के क्रीडो मतावलम्बी हैं। आपने 'क्रीडो' मत की अभिव्यक्तियों की चर्चा की है, गत उत्तर में हमने भी एक हवाले से उसके सारतत्व की चर्चा की थी। आप द्वारा उल्लिखित अभिव्यक्तियों से भी 'क्रीडो' मत का वही सारतत्व आसवित होता है जिसकी चर्चा हमने पिछले प्रत्युत्तर में की है। "(क्रीडो) घोषणापत्र रूसी अर्थवाद के अवसरवाद की सर्वाधिक मुखर अभिव्यक्ति थी" (लेनिन : कलेक्टड वर्क्स, खण्ड 9, पाद टिप्पणी सं. 37)। लेनिन ने ही अन्यत्र 'क्रीडो' मत को इस रूप में याद किया है : "बर्नस्टीनपन्थियों के 'क्रीडो' की याद कीजिये। 'शुद्ध सर्वहारा वर्गीय' विचारों तथा कार्यक्रमों से लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला : हम सामाजिक जनवादियों को केवल आर्थिक सवालों से, मजदूरों के वास्तविक हेतु से, हर प्रकार की राजनैतिक तिकड़मों की आलोचना करने की स्वतन्त्रता से, सामाजिक जनवादी काम को सचमुच अधिक गहरा बनाने से सरोकार रखना चाहिए।" (लेनिन : जनवादी क्रान्ति में सामाजिक जनवाद की दो कार्यनीतियाँ, पृ. 101, प्रगति प्रकाशन, 1969 संस्करण, ज़ोर हमारा)।

इसी सारवस्तुगत समानता की दृष्टि से हमने आपको आज के भारतीय क्रान्तिकारी वामपन्थी शिविर का 'क्रीडो' मतावलम्बी' कहा है। आपका सीधे-सीधे कहना है कि मजदूर आन्दोलन में समाजवाद का सीधे-सीधे प्रचार तब किया जाना

चाहिए जब समाजवादी बातों की ग्राह्यता (receptivity) बहुत अधिक हो। आपका मानना है कि आज पीछे हट रहे भारत के मजदूर आन्दोलन में समाजवाद के बजाय प्रतिक्रियावादी विचारों का माहौल है। आप आज के वर्तमान हालात के हिसाब से प्रचार और कार्रवाई का आग्रह करते हुए लेनिन का एक उद्धरण (सन्दर्भों से काटकर) देते हैं कि आन्दोलन के प्रारम्भिक अवस्थाओं में रूसी कम्युनिस्टों को प्रायः एक तरह के सांस्कृतिक कार्यों और आर्थिक कार्यों में ही जुटे रहना पड़ता था। आपने उस उद्धरण के ज़रिये यह कहने की कोशिश की है कि पीछे हटता हुआ भारतीय मजदूर आन्दोलन चूँकि आज “प्रारम्भिक अवस्थाओं” में जा पहुँचा है, अतः हमें भी सम्प्रति केवल आर्थिक व सांस्कृतिक कार्यों तक सीमित रहना चाहिए। आप या तो यह कहना चाहते हैं कि आज भारत में उन्नत चेतना का मजदूर है ही नहीं, या फिर यह कहना चाहते हैं कि “व्यापक मेहनतकश आबादी” के बीच शिक्षक-प्रचारक होने की बात करने के नाते ‘बिगुल’ जैसे ‘मास पोलिटिकल पेपर’ को औसत मजदूरों को सम्बोधित होना चाहिए न कि मुख्यतः उन्नत चेतना के मजदूरों को। ये सारी बातें आपने खासकर, ‘बिगुल’ जून-जुलाई ’99 अंक में प्रकाशित अपने विगत पत्र में, पृष्ठ 5 पर अन्तिम कॉलम के दोनों पैराग्राफों में कही हैं। साथ ही अवसरवाद के तकाजों से प्रेरित होकर आप अपने विगत पत्र के शुरू में ही यह सहमति भी जताते हैं कि मजदूर वर्ग के बीच विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार का काम सीधे-सीधे किया जा सकता है। जब आपका ध्यान इस विसंगति की ओर दिलाया जाता है तो आप बिना किसी ठोस साक्ष्य के कहने लगते हैं कि ‘बिगुल’ इस काम को जनता की चेतना का खयाल किये बिना कर रहा है। पर असलियत यह है कि आप मजदूरों में समाजवाद के विचार के प्रचार के ही हामी नहीं हैं क्योंकि आपके विचार से आज भारतीय मजदूर आन्दोलन में समाजवाद की ग्राह्यता नहीं है बल्कि प्रतिक्रियावादी विचारों का माहौल है।

आपके यही विचार आपको “1999 के भारत का ‘क्रीडो’ मतावलम्बी” सिद्ध करते हैं। ‘क्रीडो’ मतावलम्बियों का अर्थवाद अपने ठीक बाद रूस में जन्मे अर्थवाद की अन्य प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक भोंड़ा और नंगा था। आज भारत के क्रान्तिकारी शिविर में कुछ और भी अर्थवादी प्रवृत्तियाँ-रुझानें मौजूद हैं, उनकी तुलना में आपकी अर्थवादी अवसरवादी प्रवृत्ति भोंड़ी है। इसीलिए हमने आपको “1999 के भारत का ‘क्रीडो’ मतावलम्बी” कहा है।

अख़बार में नामों के प्रयोग का सवाल और ‘व्यक्तिवाद’ के खिलाफ़ प्राणपण से सन्नद्ध “वकील साहब” की कुछ और दलीलें

अख़बार में नामों के प्रयोग के सवाल पर आप अपने ‘स्टैण्ड’ के पक्ष में तर्कों को जितना ही खींचते जा रहे हैं, उनका भोंड़ापन उतना ही उजागर होता जा रहा है।

अख़बार में नाम से लेख न देने के पीछे आपका मूल तर्क यह था कि इससे व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिलता है। हमारा यह कहना था कि व्यक्तिवाद के खिलाफ़ लड़ाई का यह पेट्टी-बुर्जुआ नुस्खा वैसा ही है जैसा लोहियावादी कभी नाम से टाइटिल हटाकर जातिवाद खतम कर रहे थे। दुनिया की अन्य पार्टियाँ पार्टी-नामों से, छद्म नामों से और गुमनाम लिखने की जो परिपाटी चलाती रही हैं, उसके पीछे का कारण व्यक्तिवाद से संघर्ष नहीं बताया गया है बल्कि यह राज्यसत्ता के विरुद्ध क्रान्तिकारी पार्टियों की समग्र कार्य-प्रणाली का एक अंग रहा है। इसके साथ ही हमने यह भी याद दिलाया है कि कई देशों में वर्ग-संघर्ष की ठोस स्थितियों के हिसाब से पार्टी नेतागण अपने मूल नाम से भी लिखते और काम करते रहे हैं। फिर भी यदि आप अपने हास्यास्पद सूत्रीकरण पर अड़े हुए हैं तो हमें कुछ नहीं कहना।

आप फिर यह कहकर हमारी बातों को तोड़-मरोड़ रहे हैं कि हमारा कहना है कि भूमिगत कार्यकर्ताओं को छोड़कर शेष लेखकों के नाम दिये जाने चाहिए। हमने यह कहा है कि नाम से लिखने-न-लिखने का सवाल पार्टी की समग्र क्रान्तिकारी कार्यशैली का एक अंग है। खुला काम करने वाला व्यक्ति भी छद्म नाम से लिख सकता है और किन्हीं स्थितियों में भूमिगत कार्यकर्ता भी नाम से पार्टी-लेखन कर सकता है। आप गुमनाम लेखन को भूमिगत जीवन की ज़रूरत बताते हैं; यह अनिवार्य नहीं है। आप इसे लेखक की मानसिक सेहत के लिए ज़रूरी मानते हैं। यह आपका नीमहकीमी मनोवैज्ञानिक नुस्खा हो सकता है, विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेताओं की यह शिक्षा नहीं रही है। हमारा आग्रह नाम से लिखने के सवाल पर नहीं है, यह हमारे पत्र-पत्रिकाओं से भी ज़ाहिर है। हमारी आपत्ति आपके उस तर्क पर है जो आपने गुमनाम लेखन के पक्ष में दिया है।

राजनीतिक लाइन पर चौकसी बरतने की राजनीतिक समस्या का आपने जो नायाब तकनीकी सुझाव बताया है, उसमें कार्यकर्ताओं की राजनीतिक चेतना की नहीं बल्कि एक कॉपी और एक ताला-चाबी की ज़रूरत है। यहाँ एक बार फिर आप साबित करते हैं कि आप कार्यकर्ताओं को docile tool (आज्ञाधीन उपकरण) समझते हैं और सही राजनीतिक पद्धति को कमान में रखने के बजाय तकनीकी समाधानों के ज़रिये काम करने के हामी हैं। आपके खयाल से, लाइन की चौकसी बरतने का काम सिर्फ़ सम्पादक मण्डल या पार्टी-नेतृत्व करता है, न कि पार्टी-क़तराँ।

आगे आप हमसे दो नायाब सवाल पूछते हैं। आप पूछते हैं कि क्या अनुवाद में भी कोई लाइन होती है। आपकी समझ बढ़ाते हुए हम यह आम जानकारी दे दें कि बिल्कुल होती है। आपको जानना चाहिए कि संशोधनवादी पार्टियों व लेखकों ने मार्क्स के समय से लेकर आज तक मार्क्सवादी रचनाओं के अनुवाद के विकृतिकरण के ज़रिये और संकलनों के सामग्री-चयन तक में अपनी लाइन चलायी है। यह एक विस्तृत और दिलचस्प चर्चा का विषय है, पर यहाँ इसकी दरकार नहीं है।

आपका दूसरा सवाल यह है कि 'बिगुल' के जिन साथियों के असली नाम अब तक 'बिगुल' में छपे हैं, क्या उनका भूमिगत जीवन समाप्त हो गया है? या तो आप एक सच्चे राजनीतिक नौदौलतिये हैं जिसे तौर-तरीके-परम्पराओं की कोई जानकारी नहीं है या फिर आप एक ग़लत प्लेटफ़ार्म पर विध्वंसात्मक नीयत से यह सवाल उठा रहे हैं। फ़िलहाल हम पहली बात ही मानकर चल रहे हैं और मौजूदा प्लेटफ़ार्म की सीमाओं का ख़याल करते हुए आपको बता रहे हैं कि भूमिगत और खुला राजनीतिक जीवन काम करने की स्थायी स्थितियाँ नहीं होतीं। क्रान्तिकारी संगठनकर्ता स्थिति व आवश्यकतानुसार खुले व भूमिगत होते रहे हैं। खुला हो जाने से भूमिगत जीवन सदा-सर्वदा के लिए समाप्त नहीं हो जाता। दूसरे, भूमिगत व्यक्ति भी नाम से, किन्हीं स्थितियों में लिख सकता है। यहाँ हम इतना ही कह सकते हैं। अब आप तैरना सीखे बग़ैर धारा में छपाका मार गये हैं तो उसकी तकनीक सिखाना हमारा काम नहीं है। और वैसे भी आपको ज़रूरत नहीं है। आप तो पानी में कूदने के बाद तैरने की अपनी तकनीक गढ़ रहे हैं।

“न पूछते हुए भी” आप एक सवाल और पूछते हैं कि जो लेख, लेखक के बजाय किसी और नाम से छपते हैं उनमें लाइन की ग़लती की ज़िम्मेदारी किसकी होगी? वकीलाना तर्क की घुट्टी पिये आप जैसे व्यक्ति को बस यही उत्तर दिया जा सकता है कि यह ज़िम्मेदारी लिखने वाले व्यक्ति की होती है, क्योंकि किसी भी स्तर पर संगठन में जब ऐसा होता है तो वह संगठन के भीतरी कोर की जानकारी में होता है। आपको पता है कि नवीं कांग्रेस की जो रिपोर्ट लिन प्याओ ने पढ़ी थी, वह उसकी नहीं थी। उसकी संशोधनवादी रिपोर्ट रद्द करके माओ ने दूसरी रिपोर्ट तैयार करायी थी। लिन प्याओ के पतन और मृत्यु के बाद यह तथ्य पार्टी के बाहर ज़ाहिर कर दिया गया था।

पर आपके इन सभी तर्कों का उत्तर हमने इसलिए दिया है कि आपकी वकीलाना बुद्धि को भी तसल्ली हो जाये और आप समझ जायें कि यह मामला सतही तकनीकी तिकड़म का नहीं बल्कि सच्ची बोल्शेविक कार्यशैली का है। हमारी मूलभूत आपत्ति आपके उस तर्क पर थी जो आपने गुमनाम लेखन के लिए दी थी, वरना यह आपका अधिकार है कि आप अपने संगठन में क्या पद्धति चलायें। हाँ, इतना ज़रूरत है कि अललटप्पू तर्क गढ़ने के बजाय सांगठनिक कार्यशैली के प्रश्न पर इतिहास की विरासत, परम्पराओं और तर्कों से पहले परिचित हो लिया जाये।

मज़दूर आन्दोलन की तुलना का सवाल

जहाँ तक 1899 के रूसी मज़दूर आन्दोलन और 1999 के मज़दूर आन्दोलन में मज़दूरों की चेतना की दृष्टि से तुलना का प्रश्न है, हमारे बुनियादी तर्क वही हैं जो हमने 'बिगुल' के जून-जुलाई '99 अंक के पृ. आठ पर तीसरे-चौथे-पाँचवें पैराग्राफ़ में दिये हैं।

पहली बात तो यह कि ऐसी कोई तुलना आम तौर पर की ही नहीं जा सकती। यह यान्त्रिक आधिभौतिक पद्धति होगी।

दूसरी बात यह कि विश्वव्यापी विपर्यय और देशस्तर पर क्रान्तिकारी शक्तियों के लम्बे बिखराव से मज़दूर वर्ग में आयी परती का यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि उसकी चेतना 1947 के पहले के भारतीय मज़दूर वर्ग से या कि 1899 के रूसी मज़दूर वर्ग से भी पीछे चली गयी है।

तीसरी बात यह कि भारतीय मज़दूर वर्ग में प्रतिक्रियावादी माहौल का प्रभाव यथार्थ का सिर्फ़ एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि वह “समाजवाद” का झण्डा उड़ाते अर्थवादियों-संशोधनवादियों को काफ़ी हद तक समझ और त्याग चुका है और क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रचार को सुनने-ग्रहण करने के लिए आज पहले हमेशा से अधिक तैयार है। वस्तुगत स्थितियों का विकास आने वाले दिनों में मेहनतकश अवाम पर विनाश का जो कहर बरपा करने वाला है, उसके विरुद्ध व्यापक उभार अवश्यम्भावी है। देश के अलग-अलग कोनों में छिटपुट लगातार चल रहे स्वयंस्फूर्त संघर्ष आने वाले दिनों के पूर्वसंकेत हैं। हमें इस स्वयंस्फूर्तता से न तो आँख मूँदनी चाहिए न ही इसकी पूजा करनी चाहिए, बल्कि इससे आवश्यक नतीजे निकालने चाहिए। यही समय है जब तबाही के कगार पर खड़े मज़दूरों के रोज़मर्रा की लड़ाइयों में शामिल होते हुए उनके बीच राजनीतिक-वैचारिक शिक्षा एवं प्रचार के काम को तथा कार्यों को पूरा ज़ोर लगाकर शुरू कर दिया जाये। यही सवाल आज हमारे सामने भी किसी न किसी रूप में मौजूद है कि **क्या हम जीतने का साहस कर सकते हैं?**

इसी सन्दर्भ में जब हमने लेनिन के हवाले से 1898 से शुरू हुए तीसरे काल को रूसी मज़दूर आन्दोलन के फूट, विसर्जन और ढुलमुलपन का काल कहा है तो ज़ाहिरा तौर पर हम सामाजिक जनवादी आन्दोलन (कम्युनिस्ट आन्दोलन) की ही बात कर

रहे हैं। यह बात आगे के विवरण से भी ज़ाहिर है जहाँ हमने 1904 में मॅशेविक अवसरवाद को निर्णायक शिकस्त देने और 1905-07 की रूसी क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार होने की बात कही है। आपका कहना है कि हमने 'सामाजिक जनवादी आन्दोलन' की जगह 'रूसी मजदूर आन्दोलन' लिखकर ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बलात्कार किया है। आपको शायद पता नहीं कि मार्क्सवादी साहित्य में अलग सन्दर्भ में सामाजिक जनवादी (कम्युनिस्ट) आन्दोलन के लिए भी 'मजदूर आन्दोलन' शब्दावली का प्रयोग हुआ है। जिस चीज़ को लेनिन ने मजदूर आन्दोलन कहा है, उसे 'मजदूरों का स्वयंस्फूर्त आन्दोलन' या उनका 'स्वयंस्फूर्त उभार' भी कहा जाता रहा है। दूर क्यों जाते हैं। 1983 में भारतीय क्रान्ति की प्रकृति, स्वरूप व समस्याओं पर प्रकाशित सर्वज्ञात दस्तावेज़ में भी तो, 'कम्युनिस्ट आन्दोलन' की जगह 'मजदूर आन्दोलन' शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

हमारा मूल तर्क यह है कि यदि हम यह मान भी लें कि 1999 के भारतीय मजदूर आन्दोलन में समाजवादी बातों की ग्राह्यता 1899 के रूसी मजदूर आन्दोलन से बहुत कम है, तब भी इससे यह तय नहीं होता कि आज यहाँ मजदूर वर्ग के बीच सीधे राजनीतिक-विचारधारात्मक प्रचार के लिए एक राजनीतिक अख़बार नहीं निकाला जाना चाहिए, और केवल आर्थिक आन्दोलन के कामों में ही जुटे रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में अपनी बातें हम विस्तार से पहले ही कह चुके हैं।

साथी, बहस के परिधिगत मुद्दों को खींचते जाने की वकीलाना तर्क-प्रणाली के चलते आप इसे 'बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप' के बहाने आज के लिए ज़रूरी मजदूर अख़बार के स्वरूप पर जारी चर्चा से लगातार काफ़ी दूर खींच लाये हैं। हमारा आग्रह है कि हमने अख़बार के स्वरूप पर बहस शुरू करते हुए और लेनिन के एक लेख का हिस्सा छापते हुए उसके हवाले से 'बिगुल' के अप्रैल '99 अंक में जो मूल प्रस्थापनाएँ रखी थीं, उन पर नये सिरे से विचार किया जाये।

हमारा एक अनुरोध और है। यह बहस अब इतनी व्यापक और विस्तारित हो चुकी है कि 'बिगुल' के कलेवर और स्वरूप से बाहर जा चुकी है। इस बार तो हम विशेष बहस परिशिष्ट छापकर आपका पत्र और उसका उत्तर दे रहे हैं। पर चूँकि इसका सम्बन्ध अब इसके स्तर की दृष्टि से मुख्यतः कार्यकर्ताओं और बहुत थोड़े से उन्नत स्तर के पाठकों से ही बन रहा है, अतः एक दूसरा तरीका अपनाना बेहतर लग रहा है। आप अपना उत्तर वैसे भी बहुत जगह बाँटते-भेजते हैं। 'बिगुल' से जुड़े सभी कार्यकर्ताओं व अन्य दूसरे सभी उन्नत सम्पर्कों तक भी आप ही उसे पहुँचायें। हम पत्रों की पूरी सूची आपको दे देंगे। साथ ही, आप भी कार्यकर्ताओं और अपने साहित्य के उन्नत चेतना वाले पाठकों के नाम-पते हमें दे दें। हम अपना उत्तर अपने साथियों-सम्पर्कों व उन्नत पाठकों के साथ-साथ उन्हें भी भेजेंगे। इसके साथ ही आन्दोलन के जिन महत्वपूर्ण हिस्सों तक इस बहस को ले जाना हो, उसकी एक सूची आदान-प्रदान करके बना ली जाये और दोनों पक्ष अपने-अपने 'कमेण्ट्स' उन्हें भी भेजें। इस तरह आपका जवाब हम दुबारा छापते रहने से बच जायेंगे, 'बिगुल' के संसाधनों पर गैरज़रूरी बोझ भी नहीं पड़ेगा और यह बहस पूरे शिविर में सबके पास पहुँचती भी रहेगी।

पर इसकी कोई भी उपयोगिता तभी है जब बहस बहस के लिए नहीं, किसी नतीजे तक पहुँचने के लिए चलायी जाये। साथ ही, यदि अपने उत्तर दिये जा चुके तर्कों को ही हठधर्मी के साथ दुहराते रहना हो और मतभेद के मूल मुद्दों को दरकिनार करके नये-नये मुद्दे खड़े करते रहना हो, तो भी इस बहस की कोई सार्थकता नहीं है। यह भी यदि लग रहा हो कि अब तक के चक्रों में हमारे सभी तर्क आ चुके हैं और अब अनावश्यक दुहराव हो रहा है तो मतभेद के मुद्दों को रेखांकित करके इस बहस को समापन तक पहुँचाया जा सकता है।

आपकी जो भी राय हो लिखियेगा। उसके हिसाब से बहस आगे जारी रखने का modus operandi तय कर लिया जायेगा।

— क्रान्तिकारी अभिवादन सहित,

आपका साथी,

सम्पादक, बिगुल

(अक्टूबर 1999 – विशेष बहस परिशिष्ट, ललित सती का पत्र)

‘बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप’ पर जारी बहस : एक प्रतिक्रिया

‘बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप’ पर जारी बहस के तहत साथी पी.पी. आर्य की तरफ़ से एक मोटा पुलिन्दा (‘बिगुल’ को भेजे जाने वाले जवाब की फ़ोटो प्रतिलिपि) हमें भी प्राप्त हुआ। पुलिन्दे (उक्त जवाब को पुलिन्दा ही कहा जाना उचित होगा) का राजनीतिक जवाब तो ‘बिगुल’ के सम्पादक की ओर से दिया ही जायेगा। मैं पहले कुछ तकनीकी मुद्दों पर ध्यान दिलाना चाहूँगा।

सर्वप्रथम तो यह कि जब साथी पी.पी. आर्य के पास ‘बिगुल’ के सारे अंक ही उपलब्ध नहीं हैं (उन्होंने स्वयं अपने पत्र में यह बात कबूली है) तो वे बहस किस पर चला रहे हैं। इससे सीधे-सीधे “बहस” के पीछे का उनका मन्तव्य साफ़ हो जाता है और महज़ इस बात पर उनका भारी-भरकम पोथा कूड़ेदानी के हवाले किया जा सकता है।

दूसरी बात, जनाब पी.पी. आर्य प्राइमरी के उस अध्यापक के जैसे लगते हैं जिसे लम्बे-लम्बे इमला बोलते समय या तो इस बात का कदापि इल्म नहीं रहता है कि बच्चे की तख्ती पर कितने शब्द आयेंगे, या फिर जो अपनी ‘विद्वता’ से आतंक पैदा करना चाहता है। साथी, आठ पेज के अख़बार में उद्देश्य व स्वरूप पर बहस के लिए कितना बड़ा पत्र लिखा जाना चाहिए, क्या आप जानते नहीं हैं, या जानकर अनजान बन रहे हैं? ‘बिगुल’ ने तो फिर भी आपके पहले पत्र की ही विशालता को छापने, बहस चलाने के उद्देश्य से अख़बार के चार पृष्ठ बढ़ा दिये। अब आपने उससे भी भारी पोथा भेजकर फिर एक चालबाज़ी की है, कि या तो विवशतावश ‘बिगुल’ इसे न छापे (ताकि आप अपने कुत्सा प्रचार के पुराने हथियार का इस्तेमाल कर सकें)। इसीलिए तो जवाब पहले ‘बिगुल’ कार्यालय भेजने की जगह उससे जुड़े साथियों तक पहुँचाने की जल्दीबाज़ी दिखलायी) और यदि इसे छपा जाये तो पूरा ‘बिगुल’ ही उसमें समा जाये।

पत्र में तारीख़ का मुद्दा उठाकर आपने अपने को ही बेनकाब कर लिया। अमूमन, यदि ‘बिगुल’ सम्पादक को आपके पत्र और अपने उत्तर के बीच कम दिन का अन्तर दिखलाने का कोई प्रयोजन होता तो वे आपके पत्र की तारीख़ बदलने की जगह अपने ही जवाब की तारीख़ पीछे की डालते। पत्र में तिथि आपने बेशक 6.5.99 की डाली है लेकिन मेरी जानकारी के अनुसार ‘बिगुल’ कार्यालय में यह पत्र जून के प्रथम सप्ताह में ही मिला था। अब इस दूसरे पत्र को ही ले लें। मुझे यह पत्र 30 अगस्त को ही मिल गया था। (पत्र में 21 अगस्त की तारीख़ पड़ी है) जबकि बिगुल कार्यालय में अभी आज तक (7 सितम्बर) वह नहीं प्राप्त हुआ है (मुझे पत्र की प्रतिलिपि देने आये आर्य जी के ही एक साथी ने बताया कि अभी पत्र बिगुल कार्यालय भेजा जा रहा है)। यहाँ आप एक ऐसे कानूनविद नज़र आते हैं जो खुद अपने ही तर्कों में फँस जाता है।

यहीं एक बात हम और कहना चाहेंगे। साथी पी.पी. आर्य अपने पत्र में एक जगह लिखते हैं कि “बिगुल के वितरक साथी बिगुल को केवल अग्रणी वर्ग-सचेत मजदूरों को देने के बदले हर आम मजदूर को पकड़ा देते हैं।” यहाँ वे उस कूपमण्डूक की भाँति लगते हैं जो एक तालाब के किनारे खड़ा होकर उसकी गहराई के बारे में अहंकारी की तरह बयान देने लगता है। उसकी गहराई के बारे में उस शख्स से बहस करने लगता है जो उसमें तैर रहा है। इनकी तर्कपद्धति तो यह है कि वे बन्द कमरे में ही बैठक मजदूर की चेतना निर्धारित कर देना चाहते हैं। तभी तो इनकी उस आभासी चेतना का निर्माण होता है जिसमें इनको मजदूर तब तक उन्नत चेतना का नहीं दिखलायी देगा जब तक कि वह एक मार्क्सवादी बुद्धिजीवी की तरह अपने को अभिव्यक्त नहीं करने लगता। जनाब हमारे पास वह “अलौकिक शक्ति” नहीं है कि बगैर उनके पास गये ही उनकी चेतना के स्तर को चिह्नित-निर्धारित कर सकें।

जनाब आर्य के एक साथी ने एक बार ‘बिगुल’ की आलोचना करते हुए यह कहा था कि ‘हमें साहित्य वहीं तक वितरित करना चाहिए जहाँ तक हमारी पहुँच हो’। यहाँ भी यही प्रश्न खड़ा हो जाता है कि हमारी “पहुँच” निर्धारित कैसे होगी? और क्या जहाँ हमारी “पहुँच” नहीं है वहाँ क्रान्तिकारी साहित्य देना वर्जित होना चाहिए? जनाब पी.पी. आर्य और उक्त साथी की बात में एक समानता है। हम लोग तो मजदूर आन्दोलन में कुछ सीखते, अध्ययन-मनन करते हुए मजदूर आन्दोलन को संगठित करने का प्रयास कर रहे हैं। यहाँ ‘बिगुल’ हमारे लिए काफ़ी मददगार साबित हो रहा है। हाँ, साथी पी.पी. आर्य जैसे लोग अपनी ‘दिव्य दृष्टि’ से पहले से ही ‘मजदूरों की चेतना’ निर्धारित कर सकते हैं और साहित्य वितरण की सीमा बाँध सकते हैं।

—ललित सती

रुद्रपुर (ऊधमसिंहनगर)

साथी पी.पी. आर्य के 6 मई '99 के पत्र पर

देर से प्रकाशित एक और प्रतिक्रिया

यह पत्र ग्रामीण मेहनतकशों के बीच 'बिगुल' लेकर जाने वाले कुछ कार्यकर्ताओं ने सबसे पहले लिखा था। पर सम्पादकीय प्रत्युत्तर छप जाने की सूचना मिलने पर एक सम्बन्धित साथी ने इसे सम्पादकीय कार्यालय नहीं भेजा। बाद में यह उत्तर जब सम्पादकीय कार्यालय को प्राप्त हुआ तो इसे छापना हमें 'बिगुल' के पाठकों के लिए उपयोगी और ज़रूरी लगा। इस पत्र में यह स्पष्ट होता है कि 'बिगुल' के मार्गदर्शन में मार्क्सवाद से शिक्षित कार्यकर्तागण, साथी पी.पी. आर्य जैसों की लाइन की विजातीयता को किस प्रकार देखते-परखते हैं। – सम्पादक

प्रति, श्री पी.पी. आर्य,
प्रिय साथी,

अप्रैल 1999 के अंक का सम्पादकीय 'बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार' तथा सम्पादकीय की बातों को पुष्ट करने के लिए – "मज़दूर अख़बार किस मज़दूर के लिए?" (लेनिन के 1899 के लिखे लेख 'रूसी सामाजिक जनवादी में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति' के एक अंश का अनुवाद) को पढ़ने के बाद आपने 'बिगुल' के लेखकों और पाठकों के लिए 6.5.99 की लिखित प्रतिक्रिया भेजी है और उम्मीद रखे हैं कि वह बिगुल में छपेगी तथा अख़बार के लक्ष्य एवं स्वरूप पर बहस आगे बढ़ेगी।

महोदय, अपने पत्र में पैरा-2 में बिगुल के लक्ष्य एवं स्वरूप से सहमति जताते हुए आपने पैरा-3 में कुछ शिकायत दर्ज की है। वह यह कि -

1. बिगुल अपने घोषित उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा है।
2. (बल्कि) बिगुल अपने घोषित उद्देश्य के विपरीत काम कर रहा है।

आप बिगुल की घोषित उद्देश्य की निष्क्रियता एवं उसके उद्देश्य की विपरीतता पर बात शुरू करने-करते बिगुल के सम्पादक पर, उसकी काम की विपरीतता पर आ गये हैं। खैर, आपने अपनी प्राथमिकता के आधार पर बहस चुनी है। आपकी बिगुल के सम्पादक से यह शिकायत है कि "आप बिना खुले तौर पर नाम लिए कुछ लोगों पर मेशेविक एवं अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी होने का चिप्पा लगा देते हैं। आपने छूटते ही गाली दी। यह न तो बहादुरी का काम है और न अक्लमन्दी का। आपकी गालियों से न तो सामने वाले डरेंगे और न ही आपके शागिर्द हो जायेंगे। इस तरह चिप्पे लगा देने से कहीं से भी सर्वभारतीय संगठन के निर्माण में मदद नहीं मिलती है। इसके उलट सामने वाले की समझ में आने लगता है कि आप लोग कुछ कमज़ोर और छिछले लोग हैं जोकि दूसरों को गालियाँ देकर आत्म-महानता की कुण्ठाओं में जीना पसन्द करते हैं। ऐसी हरकतों से सामने वालों को यही समझ में आता है कि एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन का हिस्सा बनने के लिए जो समान कम्युनिस्ट विनम्रता होनी चाहिए, आपमें उसकी कमी है।" और अन्त में आप की हिदायत है कि "बिगुल के सम्पादक अपनी आदत सुधारें और इस छिछलेपन से उबरें।"

महोदय, आपकी इस सुझाव पर बेशक विचार किया जाना चाहिए और किया जायेगा। लेकिन ये तो बताइये आप अपनी दाढ़ी क्यों झाड़ रहे हैं जबकि उसमें तिनका नहीं है? चोर को चोर कहना क्या वाकई गाली है? मेशेविक, अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी प्रकृति को आपकी समझ से कैसे सम्बोधित किया जाये ताकि इनके सारतत्व को समझा भी जा सके ओर गाली का आरोप भी न लगने पाये? प्रवृत्तियाँ भी क्या कभी नख-शिख से पहचानी जा सकती हैं? इनकी पहचान तो सिर्फ़ इनकी क्रियाकलापों से ही की जा सकती है। ऐसी प्रवृत्तियों को उनकी विशेषणों से, जिनको मार्क्सवाद के शिक्षकों ने बहुत समझबूझ

कर विश्लेषित करके नाम दिया है, यदि सम्बोधित किया गया तो फिर यह गाली कैसे है? यदि इसे आप गाली मानते हैं तो शुरू से लेकर अब तक मार्क्सवादी आलोचनात्मक साहित्यों में गालियाँ ही गालियाँ भरी पड़ी हैं, ये सम्पादक की अपनी ईजाद नहीं। ऐसी प्रवृत्तियों पर मार्क्स से लेकर माओ तक ने यही विश्लेषण चर्चों किये हैं। रही बात सामने वाले के डरने की तो सम्पादक इस मुग़ालते में नहीं है। विश्लेषण तो इसलिए उछाला गया है कि कोई प्रगतिशील तत्व ऐसी प्रवृत्तियों को पहचानने में कहीं भूल न कर बैठे।

महोदय, किसी को शागिर्द बनाने अथवा किसी का शागिर्द बनने से कम्युनिस्ट नैतिकता परे होती है। शागिर्दी तो ऐसी प्रवृत्तियों के वकीलों को ही सुलभ और मुनासिब है। अगर सच कहा जाये तो यह आत्ममहानता की कुण्ठा ही है कि प्रकृति-विश्लेषकों को कुछ कमजोर और कुछ छिछला कहा गया है। जहाँ तक कम्युनिस्ट विनम्रता का सवाल है तो कम्युनिस्ट विनम्रता, मेहनतकशों, प्रगतिशील बुद्धिजीवियों तथा कम्युनिस्टों के लिए हुआ करती है, मेशेविकों, अराजकतावादियों, संघाधिपत्यवादियों एवं अन्य कम्युनिस्ट विरोधियों के लिए नहीं। अभी आप कम्युनिस्ट विनम्रता से ही परिचित हैं, कम्युनिस्ट कठोरता से शायद नहीं। मार्क्सवाद नरम-नरम हलवा नहीं है। जहाँ तक सर्वभारतीय संगठन निर्माण की बात है तो किस तरह का सर्वभारतीय संगठन? भाकपा-माकपा मार्का या भाकपा (माले) मार्का? “सर्वधर्म समभाव” या खुश्चेवी “सम्पूर्ण जनता” मार्का? अनुरोध अनुनय-विनय, अनुकम्पा भी मेशेविज़्म, अराजकतावादी, संघाधिपत्यवाद का ही सबल हथियार है, कम्युनिस्ट तो सिर्फ पद्धति, प्रणाली, तर्क और व्यवहार पर ही विश्वास करते हैं। सम्पादक ने किसी व्यक्ति विशेष की आलोचना या तोहमत नहीं लगाया है वह तो प्रवृत्तियों का मात्र विश्लेषण भर किया है।

महोदय, आपने अपने पत्र के पैरा 4 में तोहमत और तीखी आलोचना में गुणात्मक अन्तर दिखाते हुए लेनिन को कोट किया है और एक क्रान्तिकारी पार्टी-बिल्डिंग की सफलता के लिए लेनिन की कार्यशैली के अनुसार काम करने का नेकनीयती के साथ सुझाव दिया है। माना कि तोहमत और तीखी आलोचना में गुणात्मक अन्तर है, पर यह भी तो प्रभावित (आलोच्य) प्रवृत्तियों की गुणात्मक अन्तरताओं का ही प्रतिफलन है? इन्हीं गुणात्मक अन्तरताओं के चलते एक बात किसी को सीख, किसी को आलोचना, किसी को तीखी आलोचना तो किसी-किसी को तोहमत लगने लगती है। मुर्गी की समान गर्मी से एक अण्डे से चूजा निकल आता है पर उसी आकार का एक पत्थर नीम-गरम भी नहीं हो पाता है। इसलिए कि अण्डे और पत्थर में गुणात्मक अन्तर है। यही वैज्ञानिक सच है। लेनिन की कार्यशैली किसान की उस कार्यशैली के मानिन्द है जो गेहूँ और गेहूँ के मामा के ऊपर अलग-अलग प्रभाव डालती है। गेहूँ की अच्छी फसल के लिए गेहूँ के मामा को उखाड़कर फेंकना ही पड़ता है। लेनिन की कार्यशैली को समझने के लिए ‘राज्य और क्रान्ति’ एवं ‘क्या करें?’ को ठीक से पढ़ने की ज़रूरत है। आप पायेंगे कि उनमें कितनी सफ़ाई से गेहूँ और गेहूँ के मामा को फरियाया गया है।

महोदय, अब हम आते हैं आपके 5 एवं 6 पैरे पर। पाँचवें पैरा में बिगुल सम्पादक का अन्याय दर्ज किये हैं यथा सम्पादक ने अपने सम्पादकीय में कुछ लोगों को मेशेविक होने का आरोप लगाया है और ‘व्यक्तिवाद-विरोध’ पर कूपमण्डूकता एवं अधकचरा-मौलिक सिद्धान्तकार कहकर फटकारने का हवाला दिया गया है। जिसके जवाब में पैरा-6 में रूस-चीन का उदाहरण देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की गयी है कि “गुमनाम लेखन आज की परिस्थिति में भारत के लिए बहुत ज़रूरी है।” और यह भी लिखे हैं कि “कुछ क्रान्तिकारी नेता और उनके परिवार-जन ‘छपास’ का कोई मौका नहीं छोड़ते। अपनी व्यक्तिगत शोहरत के लिए संगठन के प्रकाशन गृहों का खुलकर इस्तेमाल करते हुए लजाते नहीं।” और इसमें आपको व्यक्तिवाद नज़र आ रहा है। इसके लिए आप थोड़ा विलाप किये हैं कि थोड़ा आदर्श होना चाहिए और थोड़ा वाम। यदि कभी-कभार नाम भी देना हो तो सिर्फ आन्तरिक बहसों तक। आगे कहा गया है कि “इतने पर भी नहीं मानते हैं तो आप शौक से इस दलदल में पड़े रहिये, दूसरों को इस दलदल में खींचने की कोशिश मत कीजिये।” फिर आप को तसल्ली नहीं होती है तो मुड़कर सामूहिकता के दर्शन से कम्युनिस्ट पार्टी बनाने की तहजीब सिखाते हुए “एक क़दम आगे दो क़दम पीछे” से लेनिन को कोट कर देते हैं।

महोदय, वाकई आपने बहुत मेहनत की है। इस मेहनत से आप पसीना-पसीना तो हो ही गये होंगे। बिजली भी तो इस समय कुछ अधिक ही गुल रहती है? पाकेट से रूमाल निकालकर चेहरा साफ़ करने के बाद बड़े ही आत्म-महानता के सन्तोष के साथ एक लम्बी उच्छ्वास भी खींचे होंगे। क्यों नहीं, क्यों नहीं, आप एक विद्वान जो ठहरे। मार्क्सवाद को आप नहीं समझेंगे तो फिर दूसरा कौन समझेगा, लेकिन एक ही बात हमें खटक रही है – हँसुवा के ब्याह में खुरपी के गीत क्यों? चले थे हम लोग ‘बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर’ बहस करने और हो गयी सास-पतोहू की रेंडवारी-बंसवारी। खैर, अब तो मजबूरी है कि किसान शैली से गेहूँ की सुरक्षा के लिए गेहूँ के मामा को अलग किया जाये।

महोदय, पत्र में आपने स्वीकारा है कि बिना नाम लिये मेशेविक होने का आरोप लगाया गया है। पहली बात – मेशेविक प्रवृत्ति को उजागर करने में आपको क्या परेशानी है? ऐसी प्रवृत्तियाँ जब-जब भी सर उठायी हैं, क्रान्तिकारी खेमे में उनका भण्डाफोड़ होता रहा है। मेशेविक से बोल्शेविक पार्टी बनी ही इन्हीं प्रवृत्तियों को चिह्नित करके। आरोप के आधार – “मजदूर

वर्ग के बीच... ऊँचा उठाना चाहिए।” जो **बिगुल** में दर्ज है उसे शायद आपने ठीक से पढ़ने की जहमत नहीं उठायी। दूसरी बात – व्यक्तिवाद विरोध की सोच ही आपमें कैसे आयी? क्या एक कम्युनिस्ट संगठन में एक व्यक्ति द्वारा की गयी कार्यवाही व्यक्तिवादी कार्यवाही होती है यदि वह सचमुच ढाँचा और संगठन से दुरुस्त हो? ऐसी बात तो दो ही के दिमाग में आ सकती है या तो उनके जो नौसिखुए हैं या उन घाघ मध्यवर्गियों के जिनको सिवाय खुड़पेंच के ढाँचा और संगठन से कुछ लेना-देना नहीं होता। **बिगुल** का निकालना एक खुली कार्यवाही है फिर इसको गुमनाम क्यों लिखा जाये? महोदय, आप ये कैसे जानते हैं कि जो लेख **बिगुल** में जाता है, कोई व्यक्ति मर्जी से अपनी नाम देता है, यह भी तो हो सकता है कि **बिगुल** के लेख में जाने वाला नाम संगठन तय करता हो और क्रान्तिकारी संगठनों में यही होता है। क्यों, क्या एतराज है इस पर आपको? कै प्रतिशत आदर्श और कै प्रतिशत वाम होना चाहिए? ये भी आपको लिखना चाहिए। आप द्वारा लिखा गया ‘छपास’ शब्द से तो हलवाई की मिठाई देखकर कुक्कुर की छाती फटने का भाव झलक रहा है और ‘लजाने’ शब्द से अंगूर के प्रति उस लोमड़ी के खटास भाव की सड़ाँध भरी बदबू। लेनिन के जुमलों की सिर्फ जुगाली करते हुए उनकी राजनीतिक कार्यवाही के विपरीत आचरण करने वाली प्रवृत्ति ही मेंशेविज़्म है। ‘दल-दल में घुस जाने’ वाला जुमला लेनिन नये अवसरवादियों की ‘आलोचना की स्वतन्त्रता’ के लिए इस्तेमाल किये थे। (पढ़िये ‘क्या करें?’) बरसाती पटाव पर गोंजर-बिच्छुओं को खींचकर लाया नहीं जाता, वे तो स्वयं ही रेंग कर पटाव पर आ जाते हैं जो खतरा ही पैदा करते हैं।

महोदय, लेनिन के “एक कदम आगे दो कदम पीछे” पुस्तक से आप द्वारा दिया गया कोटेशन पार्टी-निर्माण में वैसे ही है जैसे कोई सईस अपनी सईसाना के मद में अन्धा होकर घोड़े के मुँह के बजाय उसके पूँछ में लगाम लगा दे। लेनिन जिस सन्दर्भ में यह अंश लिखे हैं क्या वैसे ही सन्दर्भ है, जहाँ आपने ये अंश (कोटेशन) फिट किया है? कम्युनिज़्म सामूहिकता का दर्शन है, बेशक, पर क्या सामूहिकता का दर्शन सर्वहारा में अपने आप आ जाता है या सर्वहारा को यह दर्शन दिया जाता है? आपके मतानुसार, तब तो मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन, माओ को अपनी-अपनी महान रचनाएँ नहीं लिखनी चाहिए क्योंकि ये सब विशिष्ट व्यक्तियों की महानता का प्रतीक-चिह्न हैं और इनसे पार्टी-निर्माण अवश्य बाधित होता रहा होगा। आपके तर्क की दिशा यही तो है?

महोदय, पैरा-7 में आपने बुद्धिजीवियों की प्रवृत्ति का जो विश्लेषण किया है, वह जलेबी पारने से अधिक कुछ नहीं है। मार्क्सवादी दर्शन के सारे के सारे धुरन्धर विभूतियों की क्या मजबूरी थी, जिसके चलते जन समूह के लिए अनुशासन की आवश्यकता स्वीकारे थे? क्या मार्क्स से लेकर माओ तक सभी अनिच्छा से पार्टी-निर्माण, पार्टी-गठन के कामों में लगे थे। दाद है आपकी इस तर्क बुद्धि को!

महोदय, आठवें पैरे में आप एकदम दार्शनिक हो उठे हैं। आपकी इस दर्शन की कै से घृणा हो रही है। सारे के सारे बुद्धिजीवियों पर अपनी दार्शनिक नजर से ऐसे घूरे हैं जैसे ऋषि ने उस ब्लाटा चिड़िया पर घूरा था। वर्ग-संघर्ष का दर्शन इन्हीं बुद्धिजीवियों ने ही दी है जिन पर अनायास ही आप लाल-पीले हो रहे हैं। महोदय, बुद्धिजीवियों का भी वैचारिक वर्ग होता है। ऊपर जो कुछ भी लिखा गया है वह **बिगुल** के लक्ष्य एवं स्वरूप पर कुछ भी सार्थक बहस का हिस्सा नहीं है।

महोदय, नवें पैरा में आपने **बिगुल** के स्वरूप पर थोड़ी निगाह डाली है। **बिगुल** के स्वरूप की अपनी आलोचना में आपने लेनिन के अनुवादित लेखक का हवाला देते हुए यह साबित करने की कोशिश की है कि **बिगुल** का कोई स्तर नहीं है। इसलिए इसकी कोई भूमिका भी नहीं है। इस मायने में कागज़ और स्याही की बरबादी है। आपकी आलोचना सचमुच जन-समूह के अनुरूप है। धनिया बेचने वाले बनियों के कुछ हिस्सों से यही आलोचना सुनने को मिलती है जो शुकसागर सोरठी, शोभकनवा के आत्मज्ञान की महानता के एँट में बैठे रहते हैं और भूल से कभी-कभार उनके हाथों में **बिगुल** पड़ जाता है तो वे भी यही कहते हैं – क्या है **बिगुल** में? कुछ भी तो नहीं है इसमें? चार पन्ने का कमनिष्टिहा अख़बार है। इससे बढ़िया तो पांचजन्य, सहारा, आज और दैनिक है। और वे **बिगुल** को ऐसे लौटाते हैं जैसे जल्दी नहीं किये तो **बिगुल** उनको डँस लेगा। आप जैसे क्रान्तिकारियों के लिए **बिगुल** कोई स्तर भला क्यों रखेगा? मैं यह मान सकता हूँ क्योंकि आप की सोच उन्हीं जन-समूह के सोच के धरातल पर है और साथ ही कम्युनिस्ट पार्टी बनाने के प्रति आप गम्भीर भी हैं। माना कि सम्पादक पर आपने बड़ी कृपा की है। समझदारी देकर कागज़ और स्याही की बरबादी से उबारा है पर आपने यह नहीं बताया कि **बिगुल** किस दृष्टि से स्तरहीन है, भाषा या अन्तरवस्तु से?

महोदय, आपने दसवें पैरा में **बिगुल** की इसलिए खिंचाई की है क्योंकि यह आम मजदूरों के एक बड़े घेरे के लिए बोधगम्य नहीं है। यहाँ भी आपने साफ़ नहीं किया कि भाषा की दृष्टि से या अन्तर्वस्तु के दृष्टि से? मैं आप से यह जानना चाहूँगा कि आप जैसे उच्च क्रान्तिकारियों और आम मजदूरों के विशाल घेरे के बीच कोई संस्तर है या नहीं? आपकी समझ से एक उच्च क्रान्तिकारियों का संस्तर है दूसरा संस्तर आम मजदूरों का विशाल घेरा। इसके अलावा कोई संस्तर है ही नहीं। जब इन दो के अलावा तीसरा कोई संस्तर है ही नहीं तो **बिगुल** के पाठक कहाँ से पैदा हो गये और **बिगुल** के पाठक को **बिगुल** की आलोचना का

सवाल कहाँ से उभर आया? लेनिन का सही इस्तेमान करने वाले महोदय, इसका क्या उत्तर देंगे? यह भी **बिगुल** के लक्ष्य और स्वरूप पर कोई कारगर बहस नहीं बल्कि दो प्रवृत्तियों के बीच स्पष्ट किया गया रेखांकन है।

महोदय, आपका ग्यारहवाँ पैरा भी **बिगुल** के लक्ष्य एवं स्वरूप के मुद्दे से भटका हुआ है। आपका **बिगुल** के सम्पादक पर आक्षेप है कि काल और स्थान के भेद का ख्याल नहीं रखा जाता है। इसकी पुष्टि में 1899 के रूसी मजदूर आन्दोलन और 1999 के भारत के मजदूर आन्दोलन की स्थिति की तुलना की गयी है। इस पर आपसे मेरा यही कहना है कि आप सिर्फ अंश को देख रहे हैं समग्र को नहीं। आज की दुनिया पेरिस कम्यून की पूर्व स्थिति में नहीं खड़ी है। इस धरती पर अनेक देशों में जनवादी समाजवादी क्रान्तियाँ सम्पन्न हो चुकी हैं। यह भी सच है कि आज सारी जनवादी, समाजवादी सत्ताएँ धराशायी भी हो चुकी हैं। सम्पूर्ण विश्व साम्राज्यवाद के डण्डों के नीचे है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि दुनिया के सर्वहारा ककहरा सीखने के स्टेज में आ गये हैं। पेरिस कम्यून, अक्टूबर क्रान्ति और चीन की जनवादी क्रान्तियों की भूमिका क्या ज़ीरो हो गयी है? अगर हाँ, तो आज दुनिया के देशों में पुनः हलचलें क्यों उठ रही हैं? भारत के मजदूर-आन्दोलन की स्थिति यदि कमज़ोर है तो इसका कारण यह नहीं कि इनको (आम मजदूरों को) आज तक सांस्कृतिक और आर्थिक आन्दोलनों से नहीं गुज़ारा गया है बल्कि इसके उलट सच्चाई यह है कि भारतीय मजदूर आन्दोलन की स्थिति इसलिए कमज़ोर है कि क्योंकि इनको आज तक सिर्फ सांस्कृतिक, आर्थिक आन्दोलनों में ही फँसाकर क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना से दूर रखा गया है और इस कार्यवाही में सर्वाधिक हाथ इन्हीं मंशेविकों, अराजकतावादियों, संघाधिपत्यवादियों का रहा है। ऐसा नहीं है कि भारतीय आम मजदूर समझने की क्षमता कम रखता है। अगर ऐसा होता तो वे बुर्जुआ की बातें क्यों समझ जाता? 18 दिन की रेल हड़ताल, बिजली, डाकतार विभाग, बैंक, बीमा कर्मचारियों की हड़तालें क्यों सम्भव होतीं? क्रान्तिकारी नेतृत्व अपनी ग़लती, कमज़ोरी आम मजदूरों की माथे मढ़कर इस राजनीतिक अपराध से बरी नहीं हो सकता। साम्राज्यवादी युग में कबीरकाल की कार्यवाही का सुझाव देने वाले कितना बढ़िया काल और देश का ख्याल रखते हैं? यही है मंशेविक मानसिकता की विशेषता।

महोदय, लेनिन जब लिखते हैं कि “आन्दोलनों की प्राथमिक अवस्था में सामाजिक जनवादियों को बहुत-सा ऐसा काम करना पड़ता था जो एक प्रकार का सांस्कृतिक कार्य होता था अथवा उन्हें लगभग आर्थिक आन्दोलन में ही जुटा रहना पड़ता था...” तो इसका मतलब यह नहीं कि क्रान्तिकारियों का मुख्य और सम्पूर्ण काम सिर्फ सांस्कृतिक कार्य और आर्थिक आन्दोलन में ही जुटा रहना है। लेनिन सांगठनिक कामों में एक विचारधारात्मक अख़बार की उपयोगिता और उसकी आवश्यकता को कभी भी और कहीं भी नहीं नकारे हैं। एक क्रान्तिकारी अख़बार यदि विचारधारा को सर्वहारा में ले जाता है तो उससे सांस्कृतिक कार्य और आर्थिक आन्दोलन जिसके माध्यम से आम मजदूरों को शिक्षित करने का काम किया जाता है, कैसे बाधित होता है? क्या **बिगुल** निकालने वाले, सांस्कृतिक कार्यवाही और आर्थिक आन्दोलनों से सर्वहारा को चेतना देने का काम नहीं करते हैं? अब आप स्वयं ही विचार करें कि स्थान-काल का अनदेखा और लेनिन की शिक्षा का ग़लत इस्तेमाल कौन कर रहा है – आप या सम्पादक?

महोदय, आपने अपने बारहवें पैरा में भारत के औसत मजदूरों को परिभाषित करने की बात उठायी है। आप तो औसत मजदूर में आयेंगे नहीं क्योंकि आपका संस्तर औसत मजदूरों की संस्तर से बहुत ऊँचा है और जिन मजदूरों को ‘चना ज़ोर गरम’ की शैली में लिखा जाता है वे भी औसत मजदूर में नहीं आयेंगे क्योंकि ये इतने पिछड़े हैं कि दो पैरा पीछे की बातें भूल जाते हैं जिनको आम मजदूरों का विशाल घेरा आपने बताया है। इन दोनों संस्तरों के बीच इस लम्बे गैप में कोई संस्तर बनता है कि नहीं? ‘चना ज़ोर गरम’ की शैली में लिखने वाले लेखकों को किस संस्तर में डालना चाहते हैं? मेरा मानना है कि इन दोनों संस्तरों के बीच का संस्तर ही उन औसत मजदूरों का संस्तर है जिनको परिभाषित करने की बात उठायी है। इनकी संख्या भले ही कम है पर किसी भी हालत में शून्य नहीं है। ये भारत के औसत मजदूर क्रान्तिकारी चेतना के अभाव में बुर्जुआ राजनीतिक ठग वैद्यों, धुर दक्षिणपन्थी नटों, मंशेविक गिरहकटों के हाथों में खेल रहे हैं।

महोदय, ‘चना ज़ोर गरम’ जुमले के इस्तेमाल को खिल्ली मानते हैं। यानी आपके विचार से चना ज़ोर गरम बहुत नीच धिनौना शब्द है। लेखक ने तो उस शब्द को सरलता के भाव में तुलनात्मक प्रयोग किया है और आप उसे घृणित और नीच भाव से ले रहे हैं। तब चना बेचने वालों को आप क्या समझते होंगे? यही है आप के कम्युनिस्ट सामूहिकता का दर्शन। **बिगुल** की शैली कन्स्यूशियसवादी शैली आपको नज़र आ रही है। अभी आप पीछे कह आये हैं कि **बिगुल** का कोई स्तर नहीं है। आप की इस दोहरी बातों से आप ही बताइये कि आपको कहाँ रखा जाये? उच्च क्रान्तिकारी संस्तर में या आम मजदूरों की घेरे में? यदि आप आम मजदूरों के घेरा के जीव हैं तो ज़रूर **बिगुल** की शैली आपको कन्स्यूशियस शैली लगेगी ही। तब **बिगुल** आपके लिए नहीं, भारत के उन्नत चेतना वाले और औसत मजदूरों के लिए है। तब आप नाहक लेनिन, स्तालिन और माओ की किताबों की गदा को आजमाने की ढिठाई कर रहे हैं। आपके प्राथमिक शिक्षक औसत मजदूर हैं। यह नयी बात नहीं है कि **बिगुल** जैसे राजनीतिक प्रचारक अख़बारों को आज ही हिरावलवादी कहा जा रहा है, इसके पूर्व भी जितने क्रान्तिकारी अख़बार क्रान्तिकारियों द्वारा निकाले गये हैं, उन सभी अख़बारों को विरोधियों द्वारा हिरावलवादी, आतंकवादी पता नहीं और क्या-क्या कह कर बदनाम

करने की कोशिश करते रहे हैं। सच ही तो ऐसे अखबारों से साम्राज्यवादी पोसुओं की ज़िन्दगी कुचली जाती है और अवश्य कुचली जानी चाहिए। आम मज़दूरों की वर्गीय चेतना को “बिगुल” जैसा अखबार नहीं बल्कि मेशेविकों, संशोधनवादियों, अर्थवादियों, उदारवादियों की लिजलिजी नीतियाँ ही भोथरा बनायी हैं। जो हमेशा जनदिशा के विरोधी रही हैं।

महोदय, आपने तेरहवाँ पैरे में माओ के कोटेशन से समझाने की कोशिश किये हैं कि जन आकांक्षाओं का धीरज के साथ इन्तज़ार करना चाहिए। महोदय, सिर्फ़ माओ के कोटेशन का पाजामा सिला लेने से कोई माओवादी अथवा क्रान्तिवीर नहीं बन जाता। माओ अपने इस कोटेशन में जन समुदाय को जागरूक बनाने के लिए क्रान्तिकारी विचारधारा की मनहाई नहीं किये हैं और न कहीं यही कहे हैं कि जन समुदाय की परिवर्तन की संकल्पबद्धता को विकसित करने के लिए क्रान्तिकारी प्रयास न किया जाये। आप द्वारा कोट किया गया माओ के कोटेशन का क्या मतलब है? मतलब यह है कि जनता को बगैर शिक्षित किये किसी क्रान्तिकारी कार्यवाही (संघर्ष) में उतारने के लिए बलात् आदेश को लादना ग़लत होगा। इसके परिणाम ग़लत होंगे और अपने आदेश को लादने वालो जनता से कट जायेगा। यही हिरावलवाद है और जनदिशा का निषेध है। अपने लेख में माओ इसी प्रवृत्ति से बचने की शिक्षा देते हैं।

महोदय, अपने आखिरी (चौदहवें) पैरा में आपने बिना प्रश्न उठाये ही बिगुल का वितरण का श्रेय बिगुल के वितरकों को दे डाले हैं और आखिरी में आप खोले हैं कि वितरक साथियों के मेहनत मशक्कत की बदौलत बिगुल की 75 प्रतिशत से अधिक प्रतियाँ मज़दूरों में बँट रही हैं न कि बिगुल के लेखों की अन्तर्वस्तु की बदौलत।

बिगुल के वितरकों को बिगुल के लेखकों से अलग करके देखना ढाँचागत दृष्टिदोष है, कम्युनिस्ट सामूहिकता की टाँग पकड़कर परनाले में घसीटना है। हम आपसे पूछते हैं कि क्या बिगुल-वितरक आसमान से टपके हैं या संगठन के प्रयास से बिगुल-वितरक बने हैं? यदि संगठन के प्रयास से बिगुल-वितरक बने हैं तो फिर लेखक संगठन से बाहर कैसे है और बिगुल वितरण में कैसे नहीं उनकी भूमिका बनती? बिगुल के वितरकों से 75 प्रतिशत बिगुल जो पाठक (मज़दूर) ख़रीदते हैं, क्या वे बिगुल-वितरकों का मुँह देखकर ख़रीदते हैं, अन्तर्वस्तु से नहीं? आगे यह भी क्यों नहीं लिख दिये कि मज़दूर बिगुल लेता भर है पढ़ता नहीं। यही है मनोगतवादी बातें, ऐसे लोग मनोगतवादी होते हैं। ये मेशेविकों के ही कुटुम्ब हैं।

महोदय, उपरोक्त लिखित आलोचना कटु हो सकती है पर किसी भी हालत में व्यक्तिगत डाह, और ईर्ष्या की दुर्भावना से प्रेरित नहीं है। बिगुल के लक्ष्य एवं स्वरूप पर स्वस्थ और कारगर बहस चलाया जाना चाहिए जिसमें व्यक्ति की आलोचना (व्यक्तिगत डाह) से ऊपर उठकर प्रवृत्तियों की व्याख्या हो। बिगुल की कमियों को व्यक्तिगत डाह-डंक मारे बिना भी रेखांकित किया जा सकता है। आशा है अगले पत्र में आप बिगुल के लक्ष्य एवं स्वरूप पर स्वस्थ एवं सार्थक आलोचना देंगे।

‘देहाती मज़दूर किसान यूनियन’
के ‘बिगुल’ से जुड़े कार्यकर्तागण,
मधुबन और मर्यादपुर (जि. मऊ)